भावी भारत का संविधान

बजरंग मुनि

मार्गदर्शक प्रकाशन
42, मारूति लाइफ स्टाईल, कोटा रोड
रायपुर 492001

भावी भारत का संविधान

बजरंग मुनि

मार्गदर्शक सामाजिक शोध संस्थान
42, मारूति लाइफ स्टाईल कोटा रोड रायपुर 492001

प्रकाशकः

मार्गदर्शक प्रकाशन

42, मारूति लाइफ स्टाईल कोटा रोड

रायपुर 492001

support@margdarshak.info

मो0– 7869250001

तृतीय संस्करण : 2023

ISBN: 00000000

कम्प्यूटर ग्राफिक्स : **संजय गुप्ता**

मुद्रक

.....

सहयोग राशि : **50/**

BHAVI BHARAT KA SAMVIDHAN BY BAJRANG MUNI

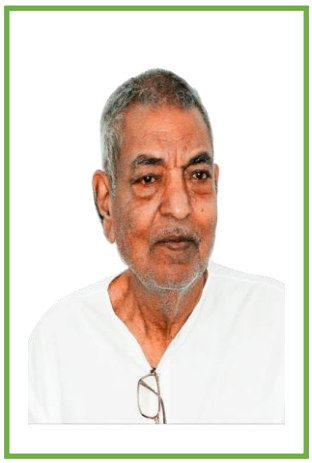

श्रद्वेय बजरंग मुनि

लेखक का परिचय

तर्क यथार्थ को जानने–समझने का आधार होता है। जब कोई स्थापित तर्क कटता है तो नए तर्क का सृजन होता है। स्थापित सामाजिक व्यवस्था के विसर्जन तथा इनके नव–निर्माण का भी यही नियम है। इस नियम के गुणधर्म का व्यावहारिक परिचय जो समाज को कराता है वह विचारक या चिन्तक कहलाता है। भारत में छत्तीसगढ़ राज्य के रामानुजगंज नगर में दिनांक 01–01–1939 को जन्मे बजरंग मुनि ऐसे ही एक व्यक्ति हैं। मुनि जी में जन्मजात अद्भुत वैचारिक क्षमता रही है। इन्होंने बचपन से ही समाज विज्ञान का अनुसंधान शुरू कर दिया था। अपने अनुसंधान से प्राप्त निष्कर्षों की तुलना यह स्थापित सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं से किया करते थे। लेकिन इनके निष्कर्ष तथा समाज व्यवस्था के ढाँचे में कोई तालमेल नहीं होता था। इन्हें समाज व्यवस्था की खामियां एवं उससे उत्पन्न समस्याएं सहजता से समझ में आ जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि लोक व्यवहार में इनकी छवि एक विचारक के रूप में स्थापित होती चली गयी। इनके समाजशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर सन 1955 में इनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत हुई तथा इसी क्रम में इनकी समाजशास्त्रीय समझ के आधार पर रामानुजगंज की जनता ने सन 1965 में इन्हें नगर पंचायत का चेयरमैन बना दिया। लेकिन इनकी कार्यशैली तथा राजकीय व्यवस्था का कोई तालमेल न बनने के कारण इन्होंने जल्दी ही इस व्यवस्था से खुद को अलग कर लिया। तब इन्होंने तय किया कि सरकार में जाकर समाज की समस्याओं का समाधान करेगें। अपने लंबे राजनीतिक संघर्ष में आपातकाल के दौरान 18 महीने की जेल यात्रा और बाद में जनता पार्टी के शासन में महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति–सामर्थ्य मिलने पर भी जब यह अपना उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सके तो इन्होंने 25–12–1984 को सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया और अपने अध्ययन के निष्कर्ष के फलरूप यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि समाज व्यवस्था में विकृतियों का कारण राज्य सत्ता में शक्ति का अति संग्रह होना है। अपने इस निष्कर्ष के आधार पर इन्होंने 1984 से 1999 तक भारतीय तथा दुनिया की अन्य समाज तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन किया और निष्कर्ष स्वरूप 4–11–1999 को 'भावी भारत का संविधान' नामक पुस्तक समाज को समर्पित की। इसके परीक्षण के लिए रामानुजगंज की जनता ने इन्हें जनवरी 2000 ईस्वी में नगर का पुनः चेयरमैन बना दिया। तब इन्होंने अपनी पुस्तक 'भावी भारत का संविधान' के मूल तत्व 'लोक स्वराज्य' के सिद्धांत के आधार पर नगर की व्यवस्था चला कर यह सिद्ध कर दिया कि व्यवस्थाओं में शक्ति के केन्द्रीयकरण की वैसी आवश्यकता नहीं होती है जैसी दुनियां भर की व्यवस्थाओं में है। अपने इस प्रयोग के द्वारा इन्होंने यह सिद्ध किया कि सम्प्रभुता राज्य में नहीं बल्कि व्यक्ति में निहित होती है और व्यवस्था के निर्माण के लिए व्यक्ति इसे समाज में स्थापित करता है। अपनी समाज विज्ञान की अनुसंधान यात्रा जारी रखते हुए इन्होंने सन् 2007 में वानप्रस्थ लिया। अपने अनुसंधान के प्रति दायित्व के अधिकतम निर्वहन के लिए इन्होंने 12–9–2012 को नाते–रिश्तेदारों से भी संन्यास ले लिया। इनकी इस पुस्तक के महत्व को समझते हुए कई संस्थाओं ने भी समय–समय पर इसे प्रकाशित किया है। जिसमें प्रमुखता से **'जय जगत प्रकाशन वाराणसी'** का नाम आता है। उक्त प्रकाशन ने जनवरी 2004 में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया। अपनी समाजशास्त्रीय अनुसंधान यात्रा में इन्होंने दो वर्ष के ऋषिकेश प्रवास के दौरान यह निष्कर्ष समाज को दिया कि आम आदमी को शराफत छोड़ कर समझदार बनना चाहिए। अपने अन्य तमाम निष्कर्षों के साथ इस निष्कर्ष को भी अपनी पुस्तक 'एक निवेदन' में संकलित करके 25–12–2020 को यह पुस्तक 'मार्गदर्शक सामाजिक शोध संस्थान' को सौंप दी। जिसका विमोचन 19 जनवरी 2023 को संस्थान के प्रकाशन **'मार्गदर्शक प्रकाशन'** द्वारा **'मुनि मंथन निष्कर्ष'** के नाम से किया गया हैं। मेरा मुनि जी से सदैव यह आग्रह रहा है कि अपनी जीवन भर की अविरल समाजविज्ञान की अनुसंधान यात्रा के निष्कर्षों से हमें अनुग्रहित करते रहें।

धन्यवाद!

नरेन्द्र रघुनाथ सिंह

ग्रा0 पो0–बनबोई, बुलन्दशहर (उ. प्र.)

मो0– 9012432074

अनुक्रम

प्रकाशकीय
1– व्यवस्था परिवर्तन तथा संविधान संशोधन क्यों?
2– मौलिक अधिकार
3– स्वराज्य क्या, क्यों, कैसे?
4– स्वराज्य व्यवस्था में ग्राम से राष्ट्र तक की भूमिका
5– अपराध और नियंत्रण
6– न्याय प्रणाली और उसका प्रस्तावित स्वरूप
7– कर की प्रणाली और आर्थिक असमानता
8– समाज में श्रम का स्थान
9– समान नागरिक संहिता
10– विधायिका और उसका स्वरूप
11– भाषा
12– विदेश
13– चुनाव प्रणाली का स्वरूप
14– आपातकाल
15– संविधान संशोधन
16– अन्य

प्रकाशकीय

कल्पनाशीलता मनुष्य के अदभुत गुणों में एक है। सभी महापुरूषां ने मानव जीवन को सुखी बनाने के लिये एक जीवन–शैली, एक जीवन दर्शन की कल्पना की है। तदनुसार वे अपना सारा जीवन उसी कल्पना को साकार करने की रचना में लगाते रहे है। भाई श्री बजरंग लाल भी जमीन से जुड़े एक ऐसे ही समाज निष्ठ है, जिन्होंने अपराध मुक्त समाज निर्माण की कल्पना की है तथा उसके लिये स्थानीय स्तर पर प्रयासरत भी हैं।

भावी भारत का संविधान नामक पुस्तक का उद्‌भव बजरंग लाल जी के राजनीतिक अनुभवों से संबंधित हैं। राज्य की आचार संहिता (संविधान) कैसी हो? इस बारे में खुला चिंतन करने के लिये उन्हौंने ने न केवल राष्ट्रव्यापी यात्राएं की, वरन् जगह–जगह विधिवेत्ताओं, न्यायधीशों एव समाजशास्त्रियों के साथ खुली चर्चाएं भी की। वे मानते हैं कि वर्तमान व्यवस्था, व्यवस्था रह ही नहीं गयी है बल्कि वह एक ऐसी कुव्यवस्था है जो सुव्यवस्था के स्थान पर स्वयं शोषण एवं अत्याचार का पर्याय बनकर रह गयी है। इसे बदलने के लिये संविधान में आवश्यक संशोधन होने चाहिये।

संविधान संशोधन के पांच बिन्दु सर्वप्रथम रेखांकित किये गये हैं 1. स्वराज्य, 2. मौलिक अधिकारों की रक्षा की गारन्टी, 3. आर्थिक असमानता में कमी, 4. श्रम–मूल्य वृद्धि और 5. समान नागरिक संहिता। सविधान संशोधित करेंगे कौन? 'भारत' या 'इण्डिया' के नागरिक, विचारक, विधिवेत्ता या सांसद? देश के दो नाम रहे ही क्यों? यह सोचने का समय आ गया है। इसके लिये आवश्यकता है :–

1. समाज की इकाई की व्याख्या और उसके आयामों की पहचान।
2. परिवार इकाई की पांव से शिखा तक की अन्तर व्यवस्था का प्रस्तुतिकरण।
3. व्यवस्था में अपराधियों की दखलंदाजी समाप्त करने के कारगर उपाय।
4. संविधान के रखवाले के रूप में आचार्यों का महत्व एवं
5. निर्वाचित जनप्रतिनिधियां पर नियंत्रण के कारगर उपाय।

भावी भारत का संविधान नामक पुस्तक 25 वर्ष पूर्व भारत की जनता को समर्पित की गयी थी यह पुस्तक बहुत संक्षिप्त होने से कुछ जटिल थी इसलिए बजरंग लाल जी ने उसी समय भावी भारत का संविधान एक समीक्षा नामक बड़ी पुस्तक लिखी जिससे सामान्य लोग संविधान को समझ सके। इस पुस्तक के दो संस्करण पहले ही बजरंग लाल जी द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं यह तीसरा संस्करण मार्गदर्शक प्रकाशन द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है उक्त पुस्तक 25 वर्ष पूर्व लिखी गयी थी इसलिए स्वाभाविक है की अब आर्थिक आँकड़ों में बदलाव किये जाए। लेकिन हम पुस्तक को उसी रूप में प्रकाशित कर रहे हैं इसलिए उचित होगा की आप पाठक बदली हुई स्थिति के साथ जोड़कर पुस्तक को पढ़ने की कृपा करें।

निवेदक
मार्गदर्शक प्रकाशन

(1) व्यवस्था परिवर्तन तथा संविधान संशोधन क्यों?

सृष्टि के प्रारंभ से ही दो प्रकार की प्रवृतियाँ अस्तित्व में हैं 1. दैवी प्रवृति और 2. आसुरी प्रवृति। इन दोनों के बीच निरंतर संघर्ष चलता रहता है। दैवी प्रवृति के लोगों की संख्या बहुत अधिक होती है तथा आसुरी लोगों की बहुत कम। किन्तु आसुरी प्रवृति के लोग दैवी प्रवृति वालों की अपेक्षा बहुत शक्तिशाली होते हैं। दैवी प्रवृति के व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं तथा आसुरी प्रवृति वालों को समाज विरोधी। समाज और समाज विरोधी तत्वों के बीच निरंतर संघर्ष होता रहा है। समाज विरोधी तत्वों पर समाज के नियंत्रण को व्यवस्था के नाम से पुकारा जाता है। व्यवस्था उस प्रक्रिया को कहते हैं जो समाज द्वारा समाज विरोधी तत्वों पर नियंत्रण तथा समाज के सुचारू रूप से संचालन के लिये बनाई जाती है।

व्यवस्था सम्पूर्ण इकाई द्वारा सम्पूर्ण इकाई के बीच से सम्पूर्ण इकाई की सुरक्षा और सुचारू संचालन के लिये होती है। किन्तु किसी भी व्यवस्था का क्रियान्वयन सम्पूर्ण इकाई नहीं करती बल्कि सम्पूर्ण इकाई द्वारा नियुक्त एक छोटा–सा समूह करता है। समाज की व्यवस्था करने वाले वर्ग को सरकार कहते हैं। समाज शब्द पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व करता है। अतः सरकार भी पूरे विश्व की एक ही होनी चाहिये। किन्तु अब तक विश्व राष्ट्रों से ऊपर नहीं उठ सका है अतः व्यवस्था भी राष्ट्रों की भी ही है और सरकार भी। भारत भी ऐसा ही एक राष्ट्र है जिसकी एक अपनी स्वतंत्र व्यवस्था भी है और सरकार भी।

सन् सैतालीस से भारत की अपनी व्यवस्था है। स्वतंत्रता के समय सोचा भी गया था तथा घोषणा भी हुई थी कि भारत में सुराज्य होगा। अपराध नियंत्रण होगा। भ्रष्टाचार तथा आर्थिक असमानता नहीं होगी। श्रम का सम्मान होगा तथा उसका उचित मूल्य मिलेगा। कानून का पालन करने वाले निर्भय होंगे। बेरोजगारी नहीं होगी तथा भारत इतना आत्मनिर्भर होगा कि विदेशी कर्ज का कोई प्रश्न ही नहीं रहेगा। जाति और धर्म का भेद भाव नहीं किया जायेगा। ये तथा ऐसी ही अनेक घोषणाएं की गई थी। किन्तु हम पचास वर्षों के बाद समीक्षा करते है तो पाते हैं कि हम हर मामले में पिछड़ते चले गये। उत्पादन तीव्र गति से बढ़ा किन्तु सुरक्षा, भ्रष्टाचार, आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, विदेशी कर्ज, धार्मिक व जातीय टकराव आदि पर कोई रोक नहीं लगी बल्कि सच्चाई यह है कि प्रत्येक मामले में हम लगातार पिछड़ते चलें गये। गांधी जी ने हमें स्वराज्य का नारा दिया था जिसका अर्थ होता है "प्रत्येक इकाई को अपने इकाईगत निर्णय की स्वतंत्रता।" गांधी जी तथा उनके आश्रम के लोग निरंतर इसी विचार के पोषक रहे। किन्तु गांधी हत्या के बाद कांग्रेस तथा आश्रम की सोच भिन्न–भिन्न हो गई। आश्रम की शक्ति कमजोर हुई तथा नेहरू पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस ने स्वराज्य के स्थान पर सुराज्य को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया। कांग्रेस के लोगों की नीयत विश्वास योग्य थी। अतः आम नागरिकों ने सुराज्य की प्रतीक्षा में स्वराज्य की नीति को छोड़ना स्वीकार कर लिया। सुराज्य व्यवस्था के दोष निश्चित थे जो धीरे–धीरे व्यवस्था के अंग बनते चले गये और धीरे–धीरे हम व्यवस्था से अव्यवस्था की ओर तथा अब अव्यवस्था से कुव्यवस्था की ओर बढ़ते जा रहे हैं। अब बिल्कुल स्पष्ट हो चुका है कि व्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो चुकी है और यदि व्यवस्था नाम की कोई चीज है भी तो वह समाज विरोधियों की व्यवस्था समाज के लिये चल रही है। निश्चित रूप से यह एक चिन्तनीय विषय है। भारत के अनेक साधु पुरूष इस व्यवस्था की बीमारियों को ठीक करने में दिन रात लगे हुए हैं किन्तु व्यवस्था लगातार विपरीत दिशा में छोड़ रही है। अनेक विद्वान निराश होकर भगवत भजन में लग गये है अथवा अनेक अब भी व्यवस्था में सुधार का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु न तो वे सफल हैं न ही सफलता की कोई उम्मीद शेष है।

मेरे विचार में व्यवस्था के प्रत्येक अंग एक–दूसरे से इस तरह जुड़े है कि किसी एक के सुधार से कोई परिणाम दिखने वाला नहीं। अतः व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन करना होगा। वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था का एक प्रारूप बनाकर तदनुसार व्यवस्था परिवर्तन ही हमारा उद्देश्य है और मेंरी यह इच्छा है कि नई व्यवस्था का प्रारूप बनाने तथा व्यवस्था परिवर्तन में समाज के जागरूक साधु पुरूषों की पूरी सहभागिता हो।

संविधान संशोधन क्यों?

हम इस निष्कर्ष तक पहुंच चुके हैं कि वर्तमान समस्याओं के समाधान के लिये वर्तमान व्यवस्था का आमूल–चूल बदलाव ही एकमात्र मार्ग है। अब हमें यह विचार करना है कि व्यवस्था में ऐसी गड़बड़ी क्यों आई? नई व्यवस्था का स्वरूप क्या हो तथा उसका मार्ग क्या हो?

व्यवस्था समाज की होती है और उसका कार्यान्वयन सरकार का। सरकार को समाज की नीतियों के आधार पर काम करना होता है। किन्तु समाज का कोई स्थिर स्वरूप और संगठन न होने से यह संभव नहीं होता कि समाज सरकार के दैनिक कार्यों पर नियंत्रण या मार्ग दर्शन कर सके। अतः समाज एक संविधान बनाकर उस संविधान के अन्तर्गत सरकार को काम करने के अधिकर दे देता है। संविधान एक ऐसा दस्तावेज

होता है जो सरकार की अन्तिम सीमाएं तय करता है और मार्गदर्शन प्रदान करता है। सन सैतालिस के पूर्व भारत गुलाम था अतः उसका अपना कोई संविधान नहीं था। किन्तु स्वतंत्रता के बाद भारत का अपना संविधान बना जो तीन वर्षों में तैयार होकर सन पचास में लागू हुआ।

संविधान की प्रामाणिकता की कसौटी इस बात पर निर्भर करती है कि वह कितना संतुलित है अर्थात संविधान न इतना कठोर हो कि शासन को व्यवस्था करने में ही कठिनाई हो तथा न इतना लचीला हो कि शासन ही उच्श्रृंखल हो जाय। शासन कमजोर होगा तो अव्यवस्था हो जायेगी और उच्श्रृंखल होगा तो कुव्यवस्था। यह अपेक्षा की गई थी कि भारतीय संविधान इतना संतुलित होगा कि समाज विरोधी तत्वों पर पूरी तरह नियंत्रण होगा किन्तु समाज की स्वतंत्रता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होगी। किन्तु परिणाम ठीक विपरीत हुए अर्थात समाज विरोधी तत्व मजबूत होते गये और समाज की स्वतंत्रता में लगातार कटौती होती चली गई। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संविधान अपने उद्देश्यों के विपरीत परिणाम देता रहा।

आमतौर पर यह कहा जाता है कि भारत में फैली अव्यवस्था के लिये चरित्र–पतन उत्तरदायी है, न कि संविधान। यदि व्यक्ति ठीक हो तथा संविधान का ठीक से पालन करे तो परिणाम विपरीत हो ही नहीं सकते। मेरे विचार से ये बचकानी बातें हैं। जब भारत का संविधान बना तब उसके बनाने वालों और पालन करने वालों का चरित्र आज से कई गुना ऊंचा था। फिर भी यह दुर्दशा यदि हुई तो कही न कहीं संविधान में कमजोरी रही। पागलखाना का कोई डाक्टर यदि तर्क दे कि यदि पागल मेंरी बात को ठीक से समझेगा तथा उस अनुसार काम करेंगे तो वह ठीक हो जायगा। डाक्टर का ऐसा तर्क मिथ्या होगा क्योंकि पागलखाने का डाक्टर समझने वाले के लिये नियुक्त नहीं है बल्कि न समझने वालों के लिये नियुक्त है। संविधान का उद्देश्य चरित्र–पतन को रोकना है और यदि संविधान चरित्र–पतन को ही रोकने में असफल है तो यह उसकी स्वयं की असफलता है, चरित्र की नहीं। दुर्भाग्य है कि हमारे अनेक सामाजिक कार्यकर्ता भी राजनेताओं के इस प्रचार में हाँ में हाँ मिलाते हैं कि संविधान दोषी नहीं है बल्कि लोग दोषी हैं। यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है कि यदि चरित्र के उत्थान पतन में संविधान की कोई भूमिका नहीं है तो फिर उसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता ही क्या है? क्यों न इसे छोटा करके इसकी सक्रियता तथा हस्तक्षेप को कम कर दिया जाय? में तो इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि भारत में व्याप्त अधिकांश समस्याएं या तो भारतीय संविधान की कमजोरियो के कारण है या भारतीय संविधान की अति सक्रियता के वाई–प्रोडक्ट हैं।

अब हम विचार करेंगे कि भारतीय संविधान में क्या–क्या कमजोरियां हैं–

1. अपराध नियंत्रण की अपेक्षा जनकल्याण को अधिक प्राथमिकता :–

सरकार और संविधान की तुलना किसी गाड़ी के ब्रेक से की जाती है जो सामान्यकाल में गाड़ी की चाल से निर्लिप्त रहता है किन्तु आपातकाल में सक्रिय हो जाता है। भारतीय संविधान की विपरीत भूमिका रही। सामान्य लोगों के जीवन में तो संविधान और सरकार पग–पग पर सक्रिय रही किन्तु अपराध नियंत्रण के मामले में उसका ब्रेक फेल हो गया। अपराध नियंत्रण सरकार का दायित्व होता है और जनकल्याण के कार्य उसका कर्तव्य। भारतीय संविधान दायित्व और कर्तव्य के फर्क को रेखांकित नहीं कर सका जिससे जनकल्याण के कार्य तो सरकार के दायित्व बन गये और अपराध नियंत्रण उसके कर्तव्य।

2. संविधान की भाषा द्विअर्थी है :–

किसी भी संविधान की यह विशेषता आवश्यक है कि उसकी भाषा बिल्कुल स्पष्ट हो। यदि किसी संविधान की भाषा द्विअर्थी हो तो यह उस संविधान का दोष माना जायेगा। दो–चार वाक्यों का द्विअर्थी होना तो स्वाभाविक है किन्तु भारतीय संविधान तो ऐसे interpretations से भरा पड़ा है। संविधान के अधिकांश अंशों की व्याख्या करते समय संसद एक अर्थ निकालती है तो हाईकोर्ट बदलकर दूसरा अर्थ निकाल देता है। हाईकोर्ट के अर्थ सुप्रीम कोर्ट और कई बार तो सुप्रीम कोर्ट के निकाले गये अर्थ भी उसकी पूर्ण पीठ बदल देती है। तब तो शंका होती है कि यदि सुप्रीम कोर्ट से ऊपर भी कोई कोर्ट होता तो शायद अनेक निष्कर्ष बदल गये होते।

3– अस्पष्ट एवं अपूर्ण उद्देश्य :–

किसी भी संविधान को देखने पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि संविधान निर्माता क्या चाहता है। भारत के संविधान में अपने मुख्य उद्देश्य को मजबूती से रखकर "परन्तु, किन्तु" आदि के साथ अपवाद जोड़ने की प्रथा प्रचलित रही है। भारतीय संविधान की यह कमजोरी रही हैं कि उसमें वर्णित हर लगभग धाराओं के साथ किन्तु, परन्तु जोड़कर उसे अर्थहीन बना दिया गया। सरकार किसी व्यक्ति के साथ धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र, लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेंगी किन्तु आदिवासी, हरिजन, अल्पसंख्यक, पिछड़ा वर्ग तथा महिलाओं के लिये विशेष कानून बनाये जा सकते हैं। इसी तरह हिन्दी भारत की राजभाषा होगी किन्तु संसद जब तक चाहे तब अंग्रेजी को कायम रख सकती है आदि–आदि।

4–व्यक्ति को इकाई न मानकर वर्ग भेद को मान्यता :–

प्रजातांत्रिक देशों के संविधान की यह विशेषता रही है कि वे व्यक्ति को इकाई मानते रहे न कि जाति धर्म या लिंग को। होना तो यह चाहिये था कि संविधान भारत के सौ करोड़ व्यक्तियों का होता तथा परिवार, ग्राम, जिला और प्रान्त व्यवस्था की इकाइयां होती। किन्तु भारतीय संविधान धर्मों, जातियों, भाषाओं लिंगों का संघ बन गया। संविधान ने परिवार और ग्राम के लिये तो कुछ सोचा ही नहीं। भारतीय संविधान में परिवार

शब्द तो है ही नहीं, ग्राम अथवा ग्राम सभा शब्द भी एकाध जगह अवांछित सरीखे आ गया है। इससे सारे अधिकार और दायित्व भी केन्द्रित हो गये तथा व्यवस्था में परिवार और गांव की भागीदारी शून्य हो गई। साथ ही वर्ग को मान्यता मिलने के कारण वर्ग–विद्वेष भी पैदा हो गया।

5– बहुत बड़ा–

संविधान की यह विशेषता होती है कि वह सरकार की सीमाएं निश्चित करने तक सीमित रहे। इस हिसाब से संविधान को बहुत छोटा होना चाहिये। किन्तु भारतीय संविधान में तीन सौ पंचान्नवे धाराएं है और उन धाराओं में लम्बे–लम्बे किन्तु परन्तु है। यही कारण है कि भारतीय संविधान को वकीलों का स्वर्ग कहा जाता है तथा वह सामान्य जनता की पहुंच और समझ से दूर है।

6– मौलिकता का अभाव–

संविधान किसी भी व्यवस्था की आत्मा माना जाता है। उसे मौलिक तथा दबावमुक्त परिस्थितियों में बनना चाहिये। भारतीय संविधान निर्माताओं की मजबूरी थी कि उनके साथ त्यागी तपस्वी और जुझारू व्यक्तियों की टीम तो थी किन्तु विचारकों का अभाव था। परिस्थितिवश यह स्वाभाविक भी था क्योंकि गुलाम भारत को स्वतंत्रता दिलाने में मुख्य भूमिका इन्हीं सबकी थी। परिणाम हुआ कि भारतीय संविधान मौलिक तथा भारतीय परिस्थितियों का आवश्यक प्रतिबिम्ब न बनकर दुनियां के अनेक देशों के संविधानों के अंशो की खिचड़ी मात्र बन गया। उस समय की परिस्थितियों की मजबूरी भी थी कि संविधान निर्माताओं को अंग्रेजी तथा कुछ भारतीय वर्गों से न चाहते हुए भी समझौते करने पड़े।

7–व्यावहारिकता का अभाव–

किसी भी संविधान की यह अनिवार्यता होती है कि वह व्यावहारिक हो, आदर्शवादी नहीं। उस समय के संविधान निर्माता भावना प्रधान तथा उच्च आदर्शवादी थे फिर स्वतंत्रता संधर्ष के समय उन्होंने और भी बढ़ चढ़कर आदर्शवादी घोषणायें कर रखी थी। परिणाम हुआ कि भारतीय संविधान उच्च आदर्शवादी तो बन गया किन्तु उसमें व्यावहारिकता का अभाव रहा।

ऊपर उल्लेखित तथा आगे वर्णित कारणों के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारत की वर्तामान अव्यवस्था तथा कुव्यवस्था के कारण भारतीय संविधान में ही विद्यमान है अतः संविधान में आमूल चूल संशोधन आवश्यक है।

प्रश्न– संविधान और कानून कभी भी सामाजिक परिवर्तन नहीं कर सकते। आप अनावश्यक रूप से संविधान और कानून के पीछे पड़े है।

उत्तर– मैं आपकी भावना से सहमत हूँ कि संविधान और कानून सामाजिक बदलाव नहीं कर सकते। दुर्भाग्य है कि संविधान निर्माताओं ने इस सच्चाई को नकार दिया तथा भारी भरकम संविधान और तदनुसार कानून बना डाले। परिणाम यह हुआ कि सामाजिक बदलाव तो नहीं आया, उल्टे संविधान ही विफल हो गया। अब मेरा मत है कि इस सच्चाई को स्वीकार किया जाय और संविधान तथा कानूनों को कम से कम करके लोगों के लिये संविधान का छोटा प्रारूप प्रस्तुत किया जाय। मेरा आप सब पर आरोप है कि आप संविधान के स्वरूप को छोटा करने के प्रयास का अनावश्यक विरोध कर रहे हैं। क्योंकि संविधान तथा कानून से कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं हुआ करता है।

(2) मौलिक अधिकार

समाज में व्यवस्थाएं दो प्रकार की है–
(1) लोकतंत्र
(2) साम्यवाद या तानाशाही

लोकतंत्र में व्यक्ति महत्वपूर्ण होता है और साम्यवाद या तानाशाही में व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता। साम्यवाद या तानाशाही में कानून का शासन नहीं होता बल्कि शासन का कानून होता है जबकि लोकतंत्र में कानून का शासन होता है। साम्यवाद में व्यक्ति के कोई मौलिक अधिकार नहीं होते जबकि लोकतंत्र में व्यक्ति के मौलिक अधिकार होते हैं। भारत एक लोकतांत्रिक देश है। यहाँ के प्रत्येक नागरिक को मौलिक अधिकार प्राप्त है।

अधिकार दो प्रकार के होते है–
(1) संवैधानिक
(2) प्राकृतिक या मौलिक

संवैधानिक अधिकार नागरिक को प्राप्त होते है जबकि मूल अधिकार व्यक्ति के होते है। संवैधानिक अधिकार संविधान द्वारा घोषित होते है तथा प्रत्येक राष्ट्र में भिन्न–भिन्न होते है। जबकि मूल अधिकारों का संविधान से कोई संबंध नहीं होता है और ना ही वे भिन्न–भिन्न राष्ट्रो में भिन्न–भिन्न होते हैं। दुनियां के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से मौलिक अधिकार प्राप्त होते है। यह अलग बात है कि साम्यवादी या तानाशाही देशों में इन पर पूर्ण रूप से प्रतिबंध है जबकि वर्तमान लोकतांत्रिक देशों में इन पर पूर्ण रूप से प्रतिबंध है जबकि वर्तमान लोकतांत्रिक देशों में आंशिक। अनेक राष्ट्र मूल अधिकारों की भिन्न–भिन्न व्याख्या करके इनमें आंशिक फेर बदल करते रहते है।

मूल अधिकार का एक ही अर्थ होता है कि ''व्यक्ति के वे अधिकार जिसमें कोई अन्य किसी भी परिस्थिति में बिना उसकी सहमति से कोई कटौती न कर सके। ''कोई अन्य शब्द'' में दुनियां के नागरिकों से लेकर सरकार तक शामिल है। ये अधिकार इतने प्राकृतिक और स्वाभाविक होते है कि सम्पूर्ण समाज या सरकार भी उनमें किसी तरह कटौती नहीं कर सकती। दुनियां के किसी भी संविधान को इन अधिकारों पर अंकुश लगाने का कोई अधिकार नहीं होता। दुर्भाग्य से वर्तमान प्रजातांत्रिक देशों ने मूल अधिकार की परिभाषा ही बदल दी है। विशेषकर भारत में तो पूरा अर्थ ही बदला हुआ है। यहाँ मूल अधिकार का अर्थ यह माना जाता है कि ये अधिकार संविधान प्राप्त है, सरकारों द्वारा फेर बदल नहीं किये जा सकते तथा किसी भी सरकार के बाध्यकारी दायित्व के रूप में है। यही कारण है कि भारत के संविधान में यदा–कदा परिवर्तन करके मूल अधिकारों में कमी या वृद्धि का क्रम चलता रहता है। पिछले वर्षों में ही श्रीमति गांधी के शासन काल में सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार में से हटा दिया गया था। उस समय तो आपातकाल में जीवन के मूल अधिकार तक को निलंबित करने का प्रयास हुआ था किन्तु न्यायालय उनके इस प्रयास में बाधक बना। इस तरह मूल अधिकारों की गलत व्याख्या के कारण भारत में मूल अधिकारों का अस्तित्व संविधान या संविधान संशोधन के लिये अधिकृत राजनेताओं की दया पर निर्भर हो गया। ये राजनेता भी कोई पृथक से निर्वाचित न होकर सरकार और संसद सदस्य के रूप में चुने हुए ही होते है। यही लोग लोक अधिकारों का पालन भी कराने वाले होते हे और यही लोग उसकी व्याख्या का भी अधिकार रखते है। यह विडम्बना ही है कि जिन लोगों की दुष्प्रवृति से सुरक्षा के लिये मूल अधिकार व्यक्ति के कवच रूप में होते है और वे लोग ही उस कवच के स्वरूप निर्धारण का अधिकार रखते हैं।

वर्तमान समय में भारतीय संविधान में मूल अधिकारों का कोई स्वरूप ही नहीं है। भारत की 99 प्रतिशत आबादी मूल अधिकारों से वंचित है तथा एक प्रतिशत लोग जिनमें पत्रकार, राजनेता, और अपराधी वर्ग शामिल है, अपने तथा 99 प्रतिशत लोगों के मूल अधिकारों का उपयोग कर रहे है। मूल अधिकार चार ही हो सकते हैं– 1. जीने का, 2. अभिव्यक्ति का, 3. स्व–निर्णय का, 4. सम्पत्ति का।

1– जीने का– जीने के अधिकार को वर्तमान संविधान भी मूल अधिकार मानता है। इस अधिकार पर संवैधानिक विवाद नहीं है। सभी प्रजातांत्रिक देश आदर्श में भी और व्यवहार में भी इसे मूल अधिकार मानते है।

2–अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का– इस अधिकार को भी वर्तमान संविधान मूल अधिकार मानता है। यह अधिकार वर्तमान संविधान की धारा ।। 9।। के (क) में वर्णित है। इस धारा को परन्तु लगाकर इस तरह सीमित किया गया है कि ''ऊपरोक्त वाक और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उपयोग भारत की प्रभुता अखण्डता राज्य की सुरक्षा विदेशों में मैत्रीपूर्ण संबंध लोक व्यवस्था शिष्टाचार सदाचार न्यायालय मान हानि तथा अपराध उद्दीपन के संबंध में राज्य द्वारा बनाई गई विधि अनुसार ही किया जा सकेगा। विचारणीय है कि राज्य की सुरक्षा विदेश संबंध लोक व्यवस्था तक को शामिल करने के बाद अभिव्यक्ति में कौन सी स्वतंत्रता ऐसी रह जाती है जो मूल अधिकार कही जा सकती है? अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर रोक लगाने के सारे अधिकार राज्य को देने के बाद इसे मूल अधिकार में शामिल करना सिर्फ खाना पूर्ति मात्र ही है। इस अधिकार से आम नागरिक को लाभ तो नगण्य ही है किन्तु इसके नाम पर पत्रकार जगत को ब्लैकमेंल करने

तक के असीमित अधिकार प्राप्त हो गये है। अब कोई भी पत्रकार किसी भी व्यक्ति के व्यक्तिगत आचरण तक को सार्वजनिक कर सकता है। इस तरह आम नागरिक की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तो राज्य ने छीन ली और गोपनीयता की स्वतंत्रता पत्रकारों ने छीन ली।

3–स्व–निर्णय का–प्रजातांत्रिक देशों में से पश्चिम के देश स्व–निर्णय को आंशिक रूप से मूल अधिकार मानते हैं किन्तु भारत में यह आंशिक रूप से भी मूल अधिकार नहीं। किसी भी व्यक्ति को अपने विषय में निर्णय करने का उस सीमा तक अधिकार होना चाहिए कि वह किसी अन्य व्यक्ति की वैसी ही स्व–निर्णय की सीमाओ का उल्लंधन न करे। किन्तु आज भारत के किसी नागरिक को अपनी सीमाओं भोजन, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, विवाह, सन्तानोंत्पति आदि के संबंध में निर्णय करने का उसी सीमा तक अधिकार है जो सीमा राज्य तय करें। यहाँ तक कि व्यक्ति स्वेच्छा से आत्महत्या भी नहीं कर सकता। एक और तो व्यक्ति के स्व–निर्णय को राज्य की इच्छा पर निर्भर करके शून्यकर दिया गया दूसरी ओर संघ बनाने जैसे अधिकार को मूल अधिकार होने के आधार पर इतनी छूट दी गई कि अधिकांश शोषक तत्व संगठन बनाकर लोगों के बचे खुचे स्व–निर्णय पर भी भूखे भेड़िये के समान टूट पड़े। आज चक्का जाम, हडताल, घेराव, प्रदर्शन आदि के माध्यम से धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्रीयता, लिंग, रोजगार राजनीतिक भेद आदि के नाम पर संगठित समूहों ने व्यक्ति के स्व–निर्णय के अधिकार की जो दुर्गति कर रखी है वह देश भर में प्रत्यक्ष है।

4. सम्पत्ति का– सम्पत्ति का अधिकार भारत में मूल अधिकार है ही नहीं। भारतीय संविधान के प्रारंभिक काल में यह मूल अधिकार था किन्तु बाद मं राज्य ने यह महसूस किया कि यह मूल अधिकार होना घातक है अतः इसे मूल अधिकार से निकाल दिया गया। पहली बात तो यह है कि मूल अधिकार का अर्थ ही है कि कोई भी किसी स्थिति में उसकी इच्छा के बिना उस अधिकार में कोई कटौती नहीं कर सकता। प्रश्न उठता है कि सम्पत्ति का मूल अधिकार से हटाने का अधिकार सिर्फ उन्हें ही था जिनका यह अधिकार था। किन्तु इस संबंध में जनमत संग्रह कराने की आवश्यकता नहीं समझी गई और संसद ने संविधान द्वारा प्राप्त अधिकारों के आधार पर इसे गाजर मूली की तरह उखाड़ कर फेक दिया।

अब प्रश्न उठता है कि क्या सम्पत्ति को मूल अधिकार होना चाहिये? इस संबंध में अधिकांश लोगों का मत है कि नहीं होना चाहिये। इस विषय पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है तभी निर्णय करना चाहिये। एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि लगातार बढ़ती आर्थिक असमानता के कारण सम्पत्ति के असीम अधिकारों पर कोई न कोई अंकुश तो होना तर्क संगत प्रतीत होता है किन्तु प्रश्न उठता है कि यह अंकुश किसका हो? यदि यह अंकुश राज्य का होगा तो क्या राज्य की शक्ति निरंकुश नहीं हो जायगी? राज्य जो स्वयं में एक बुराई है उसे शक्ति देना कितनी बुद्धिमत्ता होगी। धन की शक्ति और राज्य की शक्ति में से राज्य की शक्ति धन की शक्ति से अधिक घातक है। धन की परिभाषा यह है कि श्रम और बुद्धि के संचय का ही परिवर्तित स्वरूप धन है। इसे मनुष्य जब चाहे तब श्रम और बुद्धि में बदल सकता है। इसके संचय करने में किसी अनैतिक आचरण पर तो अंकुश लगाना तर्क संगत हो सकता है किन्तु यदि नैतिक तरीके से कोई व्यक्ति या परिवार अपने श्रम और बुद्धि को धन के रूप में इक्ठ्ठा करे तो राज्य को उसमें हस्तक्षेप क्यों करना चाहिए? यदि राज्य को यह अधिकार दे दिया गया तो राज्य के ऐसे हस्तक्षेप की सीमा क्या होगी? स्पष्ट है कि सम्पत्ति की स्वतंत्रता में राज्य का हस्तक्षेप बहुत घातक होगा। अत; सम्पत्ति को मूल अधिकार में रखना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है।

एक बात और है कि यदि इसे मूल अधिकार से निकाल भी दिया गया है जिसे करीब 25 वर्ष हो गये है तो उससे कितनी न्यायपूर्ण अर्थ व्यवस्था स्थापित हुई? पिछले पच्चीस वर्षों में आर्थिक असमानता पूर्व के वर्षों की अपेक्षा और अधिक तीव्र गति से बढ़ी है। फिर इसे निकालने का लाभ क्या था? सिर्फ अपनी शक्ति बढ़ाने तथा आर्थिक रूप से पिछड़े हुए लोगों की भावनाओं पर मरहम लगाने की धूर्तता के अतिरिक्त इस कदम का कोई औचित्य नहीं था। यदि वास्तव में हम आर्थिक असमानता पर अंकुश चाहते है तो सम्पत्ति के मूल अधिकार में शामिल होते हुए भी तर्क संगत कर प्रणाली के द्वारा यह संभव है।

ऊपर वर्णित विचारों से यह स्पष्ट है कि राज्य मूल अधिकारों का दाता नहीं बल्कि रक्षक है। भूल से राज्य या भारतीय संविधान को मूल अधिकारों का दाता मान लिया गया है। यह सोच या तो हमारी पश्चिम के देशों की नकल का परिणाम है या हमारा अज्ञान। किन्तु है सच। भारतीय संविधान के आधार पर बने राज्य का दायित्व मूल अधिकारों की सुरक्षा का है। इस काम में राज्य पूरी तरह विफल रहा है। इसका एक कारण तो यह रहा कि राज्य स्वयं ही मूल अधिकारों के भक्षण में जुट गया। दूसरा कारण यह रहा कि मूल अधिकार भी मूल अधिकारों की सुरक्षा में बाधक बने। राज्य के समक्ष दो वर्ग स्पष्ट थे–

1. अपने मूल अधिकारों की सुरक्षा और दूसरों के मूल अधिकारों का शोषण करने वाले लोग।
2. अपने तथा दूसरों के मूल अधिकारों की सुरक्षा करने वाले लोग। राज्य का दायित्व था कि पहले वर्ग के अपराधियों के मूल अधिकारों में उस सीमा तक कटौती करते जितनी दूसरे वर्ग की सुरक्षा के लिये आवश्यक होती। किन्तु राज्य पहले वर्ग के मूल अधिकारों के प्रति इतना अधिक संवेदनशील हो गया कि दूसरे वर्ग के लोगों के मूल अधिकारों को पहले वर्ग से खतरा उत्पन्न हो गया। आज स्थिति यह है कि अपराधियों को सजा का प्रतिशत घटते–घटते एक तक आ गया है। अपराधियों का मनोबल ऊँचा है और सामान्य लोगों का गिरा हुआ। अपराधी तत्वों के मन में राज्य का भय नहीं है और सामान्य लोग राज्य से भयभीत है और अपराधियों से भी। अपराधियों के मूल अधिकारों

के लिये राज्य इस सीमा तक सतर्क है कि चाहे सौ अपराधी भले ही छूट जाय पर एक भी निरपराध को सजा न हो जाय। जेल में बन्द संदेही अपराधियों के भोजन, वस्त्र तथा अन्य सुविधाओं का स्तर सामान्य नागरिक के स्तर से ऊँचा रखने तक की चिन्ता राज्य करता है। इस तरह 99 प्रतिशत नागरिकों के मन में एक प्रतिशत अपराधियों का भय व्याप्त है जो मूल अधिकारों की सुरक्षा में राज्य की विफलता का द्योतक है।

मूल अधिकारों की गलत परिभाषा के कारण एक नया फैशन और चल पड़ा है जिसके अनुसार आज शिक्षा और रोजगार को भी मूल अधिकार में शामिल करने की बात उठती है। यहाँ तक कि राज्य भी सिद्धान्त रूप से इस मांग से सहमत हो रहा है। अधिकांश सामाजिक संस्थाएं या समाज सेवा से जुड़े लोग इस तरह की मांग में शामिल है। उन्होंने यह सोचा ही नहीं कि उनकी इस मांग का परिणाम कितना भयानक होगा। सच्चाई यह है कि शिक्षा और रोजगार आज मूल अधिकार में शामिल है। न तो राज्य किसी व्यक्ति को शिक्षा और रोजगार से वंचित कर सकता है न ही उन्हें शिक्षा और रोजगार के लिये बाध्य कर सकता है। अब इन दोनों को मूल अधिकार में शामिल करने का अर्थ होगा वास्तव में इन्हें मूल अधिकार से निकालना। अब शिक्षा जैसे स्वतंत्र कार्य में भी राज्य का हस्तक्षेप हो जायेगा। यहाँ तक कि शिक्षा प्राप्त करने वाले को या अपनी अलग ढ़ंग से शिक्षा प्राप्त करने वाले को राज्य जेल में भी बन्द कर सकता है। मूल अधिकार के नाम पर शिक्षा और रोजगार का दायित्व लेने के बाद राज्य जनता पर और अधिक मनमाने टैक्स लगायेगा। मेरे विचार में मूल अधिकार के नाम पर राज्य को और अधिक शक्तिशाली बनाने की योजना में हम जाने–अनजाने फंसकर एक गलत मांग करने लगे हैं।

प्रश्न 1– रोजगार शिक्षा और स्वास्थ्य मूल अधिकारों में क्यों नहीं हो सकते?

उत्तर – स्व–निर्णय को मूल अधिकार घोषित करने के बाद इन्हें पृथक से लिखने की आवश्यकता क्या है? क्या यह उचित होगा कि राज्य अपने नियमों के अनुसार किसी व्यक्ति को रोजगार, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधा हेतु बाध्य करने का अधिकार ले लें? संविधान में इन्हें राज्य का संवैधानिक दायित्व तो घोषित किया जा सकता है किन्तु उन्हें वर्तमान परिभाषा जो पूरी तरह गलत है, के कायम रहते मूल अधिकारों में शामिल करना खतरनाक होगा। राज्य के अधिकार, हस्तक्षेप और शक्ति में वृद्धि का कोई भी कदम घातक होगा। शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के क्षेत्र में तो विल्कुल ही राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

प्रश्न 2– धर्म को मूल अधिकार में शामिल किया गया है किन्तु आपने उसे निकाल दिया। ऐसा क्यों?

उत्तर – स्व–निर्णय मूल अधिकार में शामिल नहीं होने से धर्म की मान्यता को मूल अधिकार में पृथक से घोषित करना पड़ा। इस पृथक घोषणा के कारण ही धर्म का संगठित स्वरूप बना तथा धर्म और जाति स्वतंत्र इकाईयां के रूप में खड़ी होकर समस्याएं पैदा करने का कारखाना बन बैठी। स्व–निर्णय के बाद किसी भी व्यक्ति को अपने धर्म और जाति को मानने, पालन करने, प्रचार करने का उस सीमा तक निर्बाध अधिकार है जब तक वह किसी अन्य के किसी मूल अधिकार में बाधक न बने।

प्रश्न 3– स्व–निर्णय को मूल अधिकार में शमिल करने से स्वच्छन्दता का खतरा हो सकता है?

उत्तर – यदि स्वच्छन्दता उस व्यक्ति के स्वयं तक सीमित है तथा उसका प्रभाव किसी अन्य की स्वतंत्रता में बाधक नहीं है तो कोई आपत्ति नहीं। किन्तु यदि स्वच्छन्दता किसी भी अन्य की स्वतंत्रता में बाधक है तो वह अपराध है। स्व–निर्णय का अर्थ स्व तक सीमित है, अन्य तक नहीं।

प्रश्न 4– सम्पत्ति को मूल अधिकार मानने से आर्थिक असमानता का खतरा है?

उत्तर – सम्पत्ति को मूल अधिकार से हटा देने के बाद यह खतरा टल गया क्या? जो काम व्यक्ति, परिवार, गांव, जिला या राष्ट्र के लोग आपसी सहमति से नहीं कर सकते वह काम कुछ मुट्ठी भर राजनेताओं की संस्था पूरा कर लेगी यह संभव नहीं। राज्य को शक्ति देना खतरनाक है। फिर भी हम सम्पत्ति को मूल अधिकार में शामिल करने के बाद आर्थिक असमानता दूर करने का पृथक से ऐसा प्रारूप रख रहे है जो इस समस्या से छुटकारा दिला सके।

प्रश्न 5– किसी व्यक्ति को दण्ड देने का अर्थ उसे मूल अधिकारों का उल्लंघन ही तो है?

उत्तर – जी हाँ। मूल अधिकार का अर्थ है व्यक्ति के वे अधिकार जिनमें बिना उसकी सहमति के कोई किसी स्थिति में तब तक कोई कटौती न कर सके जब तक उसने किसी अन्य के किसी मूल अधिकार का उल्लंघन न किया हो। इस तरह यदि आप अपराध करते है तो आपके मूल अधिकारों पर अंकुश लग सकता है। दूसरी बात यह भी है कि व्यवस्था तो सबकी सहमति से बन रही है। यदि सब लोग मिलकर एक समझौता करते हैं कि इस प्रकार के कार्य करने की स्थिति में दण्ड दिया जा सकता है तो यह व्यवस्था उस अपराध करने वाले की सहमति से बनने के कारण उसे बाध्य किया जा सकता है।

प्रश्न 6– यदि कोई व्यक्ति अपनी व्यवस्था से सहमत न हो तो आप क्या करेंगे?

उत्तर – यदि कोई व्यक्ति भारत के लोगों की मान्य व्यवस्था से सहमत न हो तो न तो वह हमारी व्यवस्था मानने के लिये बाध्य है और ना ही हम उसके संबंध में अपनी व्यवस्था मानने को बाध्य हैं। समझौता एक पक्षीय नहीं हो सकता। फिर तो हम उससे एक मिनट में मनवा लेंगे क्योंकि ऐसे व्यक्ति को सजा देने के लिये कोर्ट की जरूरत नहीं होगी। फिर भी यह प्रश्न बेमानी इसलिये है कि कोई व्यक्ति ऐसा शक्तिशाली नहीं है जो समाज के बनाये नियमों को अमान्य कर दें।

मूल अधिकार की व्याख्या में अनेक बाधाएं हैं–

1. वे लोग जो पश्चिम के देशों द्वारा दी गई परिभाषा को ही मूल अधिकार की एकमात्र परिभाषा मानते हैं। ये लोग अपनी पढ़ी हुई परिभाषा के अतिरिक्त कुछ सुनने को तैयार ही नहीं होते।
2. प्रत्येक समाजशास्त्री समाज में कुछ कर गुजरने में इतने उतावले हैं कि वे कुछ सोचने–समझने को तैयार नहीं। वे चरित्रवान और भले लोग है। अतः इनकी प्राथमिकताएं धूर्त तय करते हैं। धूर्त राजनेता कुछ मुददे उछालते हैं और ये समाजशास्त्री उन मुद्दों की ही प्राथमिकता के आधार पर लेकर काम करना शुरू कर देते हैं। इनका चरित्र और विश्वसनीयता समाज में इतनी अधिक होती है कि समाज उनके कहे को सच मान लेता है। मुद्दों पर बैठकर बहस करने की आदत डाल ले तो सुधार संभव है।
3. सरकार अपने हस्तक्षेप और शक्ति के अधिकार को कम नहीं होने देना चाहती। सरकार किसी न किसी बहाने नागरिकों पर अपना शिंकजा कसा रखना चाहती है। मूल अधिकार की परिभाषा का घपला भी उसमें से एक है।

(3) स्वराज्य क्यों? क्या? और कैसे?

स्वराज्य क्यों?

दुनियां के अधिकांश विद्वानों ने सैद्धांतिक रूप से स्वीकार किया है कि किसी अच्छी से अच्छी व्यवस्था से भी अपनी व्यवस्था अच्छी होती है। और यदि किसी व्यवस्था करने वाले की नीयत ही संदेहास्पद हो तो किसी व्यवस्था को एक क्षण के लिए भी स्वीकारना हमारी गुलामी और कायरता का प्रतीक है। स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द से लेकर गांधी और विनोबा तक इस विचार को मानते हैं। पश्चिम के विद्वानों ने इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया कि न्यूनतम शासन ही सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था होती है।

वर्तमान व्यवस्था का हम आकलन करे तो पायेंगे कि व्यक्ति के व्यक्तिगत या पारिवारिक जीवन में राज्य का अधिकतम हस्तक्षेप व्याप्त है। विवाह की उम्र से लेकर सन्तानों की संख्या तक शासन तय करता है। हमारी शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार की सारी चिन्ता शासन के जिम्में है। हमारे भोजन, भाषा, और रहन–सहन के सामान्य कार्यों में भी शासकीय हस्तक्षेप और नियंत्रण लगातार बढ़ रहा है। कोटा, परमिट लाईसेंस, आरक्षण टैक्स प्रणाली के माध्यम से तथा सामाजिक न्याय के नाम पर समाज के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य ने अपना हस्तक्षेप बढ़ा लिया है। व्यक्ति कानूनों के जाल में इस तरह फंसा है कि वह एक डग भी चलने हेतु स्वयं निर्णय नहीं कर सकता। अपने अपने परिवार या अपने गांव के लिये भी नहीं।

स्वतंत्रता के पचास वर्षों में भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली, पानी, आवागमन, खान पान तथा सुख सुविधा के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। भारत छोटी–छोटी उपभोक्ता वस्तुओं के लिये विदेशों की ओर देखता था किन्तु आज भारत बड़ी से बड़ी मशीने या उपभोक्ता वस्तुए बनाने में सक्षम है। औसत उम्र भी बढ़ी है तथा जीवन स्तर भी बहुत सुधरा है। दूसरी और भारत में भ्रष्टाचार, आतंकवाद, बलात्कार, अपहरण, मिलावट, और जालसाजी जैसे अपराधों में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। भारत का आम नागरिक भय ग्रस्त है। छोटी से छोटी वस्तुभी शुद्ध नहीं मिल सकती। ऊँचे से ऊँचा अधिकारी, नेता या सामाजिक कार्यकर्ता भ्रष्टाचार में आकंठ डूबा हुआ है। समाज सेवा शोषण और पोषण का पर्याय बन गई है। इस तरह आम नागरिक नारकीय जीवन जी रहा है, नैतिकता समाप्त हो रही है, सम्बन्ध टूट रहे है तथा शंका, संदेह तथा अविश्वास सामान्य हो गया है। इस तरह कुछ दिशाओं में अभूतपूर्व सफलताओं के बाद भी मौलिक दिशाओं में हमें अभूतपूर्व विफलता हाथ लगी है। कुल मिलाकर हम भैतिक क्षेत्रों में सफल तथा सामाजिक क्षेत्रों में असफल हुए हैं।

व्यक्ति के मूल अधिकारों की सुरक्षा राज्य का दायित्व तथा जनकल्याणकारी कार्य उसके स्वैच्छिक कर्तब्य होते हैं। कोई भी राज्य चोरी, डकैती, मिलावट, बलात्कार, आतंकवाद, भष्टाचार, धोखाधड़ी और जालसाजी आदि के ऊपर शिक्षा स्वास्थ्य, रोजगार, आवागमन, पर्यावरण प्रदूषण, सामाजिक न्याय, भोजन और वस्त्र को वरीयता नहीं दे सकता क्योंकि दायित्व का स्थान कर्तब्य नहीं ले सकता।कर्तव्य को वरीयता दी गई जिसका परिणाम हुआ कि हमारी प्रगति के पूरे परिणाम उलट गये।

राज्य की दो अलग–अलग भूमिकाएं हुआ करती है– 1. नीति निर्धारक 2. कार्यान्वयन कर्ता। ये दोनों भूमिकाएं भिन्न–भिन्न होती है तथा उनकी चयन प्रणाली से लेकर कार्यप्रणाली तक भिन्न होती है। सामान्य–सा सिद्धांत है कि नीति निर्धारण के लिये औसत से अधिक विशेष योग्यता भी आवश्यक है तथा ऐसे व्यक्तियों का चयन भी विशेष योग्य व्यक्तियों द्वारा ही होना चाहिए। दूसरी और कार्यान्वयन करने वाले व्यक्तियों की न तो विशेष योग्यता चाहिये न ही विशेष योग्य व्यक्तियों द्वारा चयन की आवश्यकता। हम लोगों के द्वारा ही चुना हुआ हमारे ही बीच का व्यक्ति हमारे लिये नीति निर्धारक नहीं हो सकता, व्यवस्थापक हो सकता है। दुर्भाग्य से नीति निर्धारकों की न तोकोई योग्यता निर्धारित हुई न ही उसके चुनाव के लिये कुछ विशेष टीम बनी बल्कि हमारे द्वारा ही हमारे बीच के लोगों को चुनकर नीति निर्धारक मान लिया गया। ये निर्वाचित लोग व्यवस्था तो कर सकते है किन्तु नीति निर्धारण नहीं क्योंकि न तो उसके पास कोई विशेष योग्यता है न ही विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियों द्वारा उनका चयन ही किया गया है। इस तरह चयनित नीति निर्धारक तथा उनके चयनकर्ताओं की कोई विशेष योग्यता का मापदण्ड निर्धारित नहीं होने से ये लोग नीति निर्धारक नहीं हो सकते। चूंकि अब तक किसी ऐसी प्रणाली का विकास नहीं हो पाया है जो नीति निर्धारकों की विशेष योग्यता तथा चयनकर्ताओं की विशेष योग्यता का कोई निश्चित मापदण्ड तय कर सके अतः उचित तो यही होता कि हमारे बीच से हम लोगों द्वारा ही चुने लोगों की अपेक्षा हम अपनी नीति स्वयं ही बना लेते तथा हमारे बीच से हमारे द्वारा चुने गये लोग उसके कार्यान्वयन तक ही सीमित रहते अथवा यदि बहुत आवश्यक ही होता तो अनिवार्य प्रश्नों पर ही वे मजबूरी में कोई नीति बनाने की भूमिका अदा करते।

दुर्भाग्य से वर्तमान समय में राज्य को सभी प्रकार की नीति बनाने का अधिकार प्राप्त है।यहाँ तक कि संसद संविधान में भी संशोधन कर सकती है संसद ने संविधान की उददेश्यिका तथा व्यक्ति के मूल अधिकारों तक में फेर बदलकर दिया था। आम नागरिकों के पास सिर्फ एक ही अधिकार है कि वह अपने बीच से किसी ऐसे व्यक्ति का चयन करे जिसे इस संबंध में निर्णय करने का पूरा अधिकार प्राप्त हो जिस तरह कि कभी कभी पावर आफ एटर्नी देने की प्रथा है। किन्तु यहाँ तो ऐसा पावर देने हेतु बाध्य है। ऊपरोक्त सभी तथ्यों पर गहराई से विचार करें तो महसूस होता है कि इस सम्पूर्ण प्रणाली में आमूल चूल परिवर्तन की आवश्यकता है और ऐसा कोई भी परिवर्तन प्रत्येक इकाई को इकाईगत निर्णय की स्वतंत्रता के ही आधार पर हो सकता है जिसे बोल चाल की भाषा में स्वराज्य कहते है।

स्वराज्य क्या ?

दुनियां में स्वराज्य शब्द के कई अर्थ प्रचलित है। पहला अर्थ राष्ट्रीय स्वराज्य से जुड़ा है। दुनियां में अनेक देश किसी न किसी अन्य देश के गुलाम रहे। उस देश के राजनेताओं ने जन विद्रोह कराकर ऐसे विदेशी शासको से मुक्ति पाई और इस मुक्ति का नाम स्वराज्य घोषित कर दिया। ऐसे लोग यह मानते है कि राज्य व्यवस्था कीएक मात्र ईकाई है राष्ट्र ही सर्वोच्च है। राष्ट्रीय स्वराज्य को ही स्वराज्य शब्द का एक मात्र उचित अर्थ मानने वाले सता से जुड़े लोग होते है जो स्वयं या ता सत्ता में शामिल है या होना चाहते है। ये लोग चीख चीख कर आम जनता में इसी अर्थ को प्रचलित कर देते है। सत्ता की शक्ति उनके इस प्रचार में सहायक होती है। आज भारत में स्वराज्य का सबसे अधिक प्रचलित अर्थ राष्ट्रीय स्वराज्य ही है क्योंकि अधिकांश राजनेता तथा उनके सहयोगी इस अर्थ के प्रचार में लगे हुए है।

स्वराज्य शब्द का दूसरा अर्थ प्रचलित है ग्राम स्वराज्य। राष्ट्रीय स्वराज्य जहाँ सत्ता लोलुपो द्वारा सत्ता केन्दित अर्थ माना जाता है वही ग्राम स्वराज्य का अर्थ उन लोगों द्वारा प्रचारित किया जा रहा है जो सत्ता का विकेन्द्रीकरण चाहते है तथा सत्ता त्यागी है। ये लोग राष्ट केन्द्रित सत्ता को ग्रामकेन्द्रित देखना चाहते है। यह वर्ग भी पूरी शक्ति से इस अर्थ को प्रचारित करने में लगा है। इन सबके पास सत्ता की सुविधा नहीं है किन्तु गांधी और विनोबा के नाम उनके प्रचार में बहुत सहायक है। राष्ट्रीय स्वराज्य के बाद ग्राम स्वराज्य शब्द ही प्रचलित है जो यधपि अब तक बहुत कम प्रचलन में है किन्तु धीरे–धीरे जोर पकड़ रहा है। ग्राम स्वराज्य की सोच वालो की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि वे अब तक ग्राम और ग्राम से नीचे की इकाई व्यक्ति, परिवार तथा ऊपर की इकाई जिला, प्रान्त और राष्ट्र के बीच तालमेंल का कोई सर्वसम्मत चित्र नहीं बना पाये है। ग्राम स्वराज्य के भिन्न–भिन्न समर्थक भिन्न–भिन्न भाषा बोलते है। कोई आदिवासी स्वशासन की बात बोलता है तो दूसरा ग्राम गणराज्य की, तीसरा ग्राम में भी प्रत्येक व्यक्ति की सहमति को अनिवार्य मानकर चल रहा है। ऐसे और भी अनेक अर्थ भिन्न–भिन्न तरीके से ग्राम गणराज्य के प्रचलित है।

स्वराज्य शब्द का तीसरा अर्थ है व्यक्ति स्वातंत्र्य। अधिकांश पश्चिम के देश स्वराज्य का अर्थ व्यक्ति स्वातंत्र्य से लेकर चलते है। उनका मानना है कि व्यक्ति ही एक मात्र प्राकृतिक इकाई है बाकी सब कुछ तो व्यक्ति द्वारा बनाई गई व्यवस्था मात्र है। पश्चिम के देशों के पास धन की अधिकता होने से उनका यह अर्थ भी काफी प्रचलित है। किन्तु ये मानवाधिकार वाले भी स्वतंत्रता और उद्दंडता के बीच कोई विभाजन रेखा स्पष्ट नहीं कर पा रहे। व्यक्ति को कितनी स्वतंत्रता हो और कितना अंकुश लगे यह कही न कही तो निश्चित होना ही चाहिये। दुर्भाग्य से मानवाधिकार को स्वराज्यसे जोड़ने वाले इसमें सफल नहीं रहे है। एक चौथा अर्थ है प्रत्येक इकाई को अपने इकाईगत निर्णय की स्वतंत्रता। इसमें व्यक्ति और समाज को स्वाभाविक इकाई माना गया है तथा परिवार से लेकर व्यक्तिगत निर्णय तक ही करने की छुट दी गई है। इससे अधिक का उसका हस्तक्षेप सीमा उल्लंधन होगा। व्यक्ति अपनी ही सीमा में रहेगा तथा समाज उसे अपने स्वराज्य की गारंटी देगा अर्थात उसके व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार परिवार को पारिवारिक मामलो में, गांव को गांव संबंधी मामलो में जिला को जिला संबंधी, प्रान्त को प्रान्त संबंधी तथा राष्ट को राष्ट्रीय मामले में होगा। इस व्यवस्था में सत्ता विकेंन्द्रित नहीं होगी बल्कि अधिकार विकेंन्द्रित हो जायेगे। ग्राम स्वराज्य की धारणा में राष्ट्रीय सरकार गांव को अधिकार दे रही है और उसकी जब इच्छा हो तभी वह यह अधिकार वापस ले ले। नई व्यवस्था में सरकार गांव के अधिकार तय नहीं करेंगी बल्कि गांव तय करेंगे कि राष्ट्रीय सरकार के पास क्या अधिकार हो। इस अर्थ में कुछ विशेषताएं है –

(1) इनमें व्यक्ति, गांव और राष्ट्र तक को पृथक–पृथक इकाई मानकर उन्हें स्वराज्य दिया गया है।

(2) इसमें ऊपर की इकाईयों के कर्तव्य और अधिकारों का निर्धारण तथा सीमांकन नीचे की इकाईयां करेंगी अर्थात् परिवार के सदस्य मिलकर अपने परिवार की कार्य प्रणाली तय करेंगें तथा गांव के निवासी व परिवार मिलकर अपने गांव की।

(3) यह परिभाषा गांधी जी और विनोबा जी की धारणा के पूर्णतः अनुकूल है। विनोबा जी ने भी कहा है कि गांव के लोग सर्वसम्मति से जैसी चाहे व्यवस्था कर सकते है। किसी अन्य गांव को या राष्ट्र तक को हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं होगा। किन्तु गांव संबंधी कोई भी निर्णय प्रत्येक व्यक्ति की सहमति से ही होगा। नई व्यवस्था में भी यही प्रावधान है कि बिना सबकी इच्छा के कुछ नहीं होगा।

(4) ग्राम स्वराज्य की अवधारणा में स्वराज्य की गारंटी हेतु किसी प्रावधान का अभाव है जो स्वराज्य व्यवस्था में ऊपर की ईकाईयों का दायित्व है। ग्राम स्वराज्य व्यवस्था के अन्तर्गत यदि कोई अन्य गांव या जिला किसी गांव के निर्णय को बाधित करे तो क्या कर सकते है यह स्पष्ट नहीं है। नई व्यवस्था में यह स्पष्ट है कि यह समाज का दायित्व है। क्योंकि समाज ने इकाईगत स्वतंत्रता की सुरक्षा की गारंटी दी है

स्वराज्य की इस चौथी अवधारणा के प्रसार प्रचार में भी कई बाधाएं है। पहली बाधा तो यह है कि समाज के अमूर्त होने से उसका स्थान एक विश्व सरकार को लेना था। किन्तु अब तक राष्ट्र के ऊपर की अधिकृत इकाई नहीं होने से राष्ट्रो को किसी भी इकाईगत निर्णय की स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न करने से रोकने वाला कोई नहीं है। दूसरी बाधा है इसके पास साधनो का अभाव। न तो इस विचार को सत्ता की सुविधा प्राप्त है न ही किन्हीं महापुरूषों का नाम इससे जुड़ा है।

फिर भी स्वराज्य का एक ही उपयुक्त अर्थ हो सकता है कि प्रत्येक इकाई को अपने इकाईगत निर्णय की स्वतंत्रता। यह विचार अब तक सबसे कम प्रचलन में है किन्तु धीरे–धीरे लगातार प्रचलन में बढ़ रहा है।

स्वराज्य कैसे?

कोई भी सिद्धात चाहे कितना भी अच्छा हो किन्तु यदि वह लागू नहीं होता तो बेकार है। स्वराज्य आना चाहिये, स्वराज्य का स्वरूप कैसा होगा यह ऊपर स्पष्ट हुआ किन्तु इतना ही महत्वपूर्ण यह सोच भी है कि यह आयेगा कैसे? किसी भी व्यवस्था को स्थापित करने के सिर्फ दो ही तरीके हैं :– 1. संवैधानिक 2 जनक्रान्ति। संवैधानिक तरीके में शामिल होता है चुनावों द्वारा संविधान में ऐसा परिवर्तन कराना जो नई व्यवस्था स्थापित कर सके। इस तरीके में जनमत जागरण प्रमुख प्रक्रिया है तथा इस जन मत जागरण के लिए संविधान के द्वारा प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग किया जाता है। दूसरा तरीका है जनक्रांति। यह क्रान्ति हिंसक भी हो सकती है तथा अंहिसक भी। नक्सलवाद हिंसक क्रांन्ति का स्वरूप है तथा गांधीवाद अहिंसक क्रांन्ति का। दोनों ही संवैधानिक तरीके से सविधान में संशोधन के पक्षधर नहीं। मेरे विचार में क्रांन्ति की आवश्यकता तभी होती है जब संवैधानिक तरीके से व्यवस्था परिवर्तन के मार्ग बन्द हो। भारतीय संविधान में व्यवस्था परिवर्तन के मार्ग खुले है। अतः भारत में किसी हिंसक या अहिंसक क्रांन्ति की आवश्यकता नहीं है।

यह मानना भी गलत है कि वर्तमान व्यवस्था धन बल तथा बाहुबल के द्वारा राजनैतिक मार्ग से परिवर्तन ही नहीं होने देगी। यदि ऐसा होता तो मात्र जय प्रकाश जी के चरित्र के समक्ष बिना किसी राजनैतिक संगठन के सिर्फ थोडे से ही समय में पुरानी व्यवस्था ने घुटने नहीं टेके होते। विश्वनाथ प्रताप जी के समय में भी यही हुआ। यह अलग बात है कि नई व्यवस्था की कोई स्पष्ट कल्पना के अभाव तथा स्वराज्य के स्थान पर सुराज्य देने के प्रयास ने उक्त दोनों प्रयासो को सत्ता परिवर्तन तक सीमित कर दिया।में पूरी तरह स्पष्ट हूँ कि भारत में किसी हिंसक अहिंसक क्रांन्ति के प्रयोग की अपेक्षा संवैधानिक तरीके से भारत के सविधान में से वे सभी अंश निकाल दिये जाये जो शासन को सभी इकाईयां के इकाईगत निर्णय में हस्तक्षेप के असीम अधिकार देते है तो संविधान का प्रारूप भी छोटा हो जायेगा तथा स्वराज्य भी आ जायेगा। भारतीय संविधान की अनेक धाराएं शासन के कर्तव्यो को निर्धारित करती है।संविधान के अनुच्छेद 38 से 51 तक ऐसे ही कर्तव्यो से भरे पडे है। चुकि संविधान ने शासन से ऐसे कर्तव्यो की अपेक्षा की है, अतः इन कर्तव्यो को पूरा करने के लिये शासन को अधिकारों द्वारा शक्ति भी दी गई है। यह शक्ति ही शासन को अन्य इकाईयां के इकाईगत निर्णय में हस्तक्षेप की सुविधा प्रदान करती है। अनुच्छेद चालीस के अनुसार शासन का काम नहीं बल्कि ग्राम पंचायतो का गठन या विघटन में शासकीय हस्तक्षेप की आवश्यकता ही नहीं है। अतः मेरे विचार में संविधान से ऐसी अनेक धाराओ का निकालना तथा कुछ संशोधन मात्र ही नई व्यवस्था स्थापित करने के लिए पर्याप्त है।

अन्तिम विचारणीय बिन्दु यह है कि संविधान संशोधन कैसे होगा? संविधान संशोधन का एक मात्र मार्ग है संसद में दो तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव का पारित होना यह काम ही बहुत कठिन है। इसके लिये मेंरी कल्पना में निम्न तरीका संभव है

1. नई व्यवस्था का एक स्पष्ट प्रारूप बने। इस प्रारूप के आधार पर वर्तमान संविधान में संशोधन का एक प्रारूप तैयार हो। वह प्रारूप ही जनमत जागरण का आधार होगा तथा एक तरह का डंदनजिव होगा। प्रारूप बनाने का कार्य प्रारंभ है। इस प्रारूपपर कई बार प्रारंभिक चर्चाए भी हो चुकी है। वर्ष 1999 के अक्टूबर मास में रामानुजगंज में पन्द्रह दिवसीय सम्मेलन में इस प्रारूप को अन्तिम रूप दिया जायेगा। इस सम्मेलन में देश के सौ विद्वानों की सहभागिता होगी जो भिन्न–भिन्न क्षेत्रों, विचारों तथा व्यवसायों के लोग होगे। इस प्रारूप के अन्तिम निर्माण के बाद प्रारूप समिति भंग हो जायेगी।
2. एक नई समिति बनेगी जो स्वराज्य संविधान चेतना अभियान शुरू स्वर्ग तथा जनमत जागृत स्वर्ग।
3. चेतना अभियान की सफलता के आधार पर पूरे देश के प्रत्येक लोकसभा क्षेत्र से ऐसे व्यक्तियों के फार्म भरवाये जायेगे जो स्वराज्य के आधार पर संविधान संशोधन का कार्य करे तथा तीन माह में ही संशोधन पूरा करके लोकसभा भंग कर दें।
4. ऐसे चुनाव लड़ने वाले स्वयं चुनाव नहीं लड़ेगे। ये लोग न तो अपने क्षेत्र में प्रचार करे न ही खर्च करें। किसी अनजान स्थान से वे फार्म भरे। इस तरह चुनाव जनमत संग्रह का स्वरूप ग्रहण करेंगे। यह बात अभी संभव नहीं दिखती किन्तु जय प्रकाश की आंधी में बहुत से लोग अलग–अलग अनजान क्षेत्रों से जीत गये थे, वोट जयप्रकाश जी को मिल रहे थे।

इस कार्य के लिये निम्न आवश्यकताए होगी–

1. अन्तिम प्रारूप बन रहा है तथा अक्टूबर 99 तक बन जायेगा।
2. अभियान हेतु टीम 1999 अक्टूबर के बाद बन कर अस्तित्व में आयेगी। अन्य आवश्यक योजनाए आगे समय पर बनेगी। मेरे विचार से स्वराज्य स्थापित करने का यही एक मात्र मार्ग है।

मार्ग में आने वाली समस्याएं–

1. भारत के अधिकाश लोग गुलाम मानसिकता के हो गये है। गुलामी में जीना उनकी आदत बन चुकी है। ये लोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शासकीय हस्तक्षेप और मदद मांगने के आदी है। ये लोग राजाओं की गुलामी, अग्रेजों की गुलामी तथा वर्तमान व्यवस्था की गुलामी से आगे कुछ भी सोचने के लिये तैयार नहीं है। ये सब लोग स्वयं को अयोग्यना समझ तथा शासन को योग्य मानते है।

2. मुट्ठी भर शासक या शासन से जुड़े लोग शासकीय मानसिकता के हो गये है। शासन करना उनकी आदत हो चुकी है। आम लोगों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप तथा सहायता करना ये लोग अपना अधिकार तथा कर्तव्य समझते है। ये लोग स्वयं को योग्य तथा समझदार मानते है जबकि आम लोगों को अयोग्य और ना समझ।
3. राष्ट्रवादी लोग जो स्वराज्य को राष्ट्रीय स्वराज्य तक सीमित करके निरंतर राष्ट्रवाद के प्रचार में लगे रहते है। ये लोग तर्क के स्थान पर राष्ट्रीय विचारों की भावना फैलाते है। ये स्वराज्य नहीं सुराज्य का नारा देते है जिसका अर्थ होता है एक अच्छी व्यवस्था। यह सुराज्य का नारा और राष्ट्रवाद की भावना ही उन्हें शासन करने का अधिकार प्रदान करती है।
4. स्वराज्यवादी लोग जो अब तक स्वराज्य को न परिभाषित कर सके हैं और न ही समझते हैं। गांधी और विनोबा के कहे गये शब्दो का प्रचार ही इनका एकमात्र कार्य रहा है। ये लोग एक ओर ग्राम स्वराज्य के लिये आंदोलन करते हैं तो दूसरी ओर इनके आंदोलन शिक्षा, रोजगार, गौ–हत्या बन्दी, स्वावलम्बन, शराब बन्दी, अश्लील चित्र प्रदर्शन पर रोक, खादी ग्रामोंद्योग का प्रचार–प्रसार, महिला आदिवासी हरिजनों के साथ सामाजिक न्याय, पर्यावरण सुरक्षा हेतु पेड़ काटने पर प्रतिबन्ध, श्रम–मूल्य वृद्धि, बाल बिवाह निवारण, आदि अनेक मामलो में शासकीय हस्तक्षेप और कानूनी प्रावधान की मांग भी इनके आन्दोलनों के विषय बने रहते हैं जबकि ये सभी प्रकार के आंन्दोलन ग्राम स्वराज्य की अवधारणा के विपरीत तथा स्वराज्य में बाधक हैं। ये सभी लोग वैचारिक दृष्टि से स्वराज्य के पक्षधर हैं किन्तु मानसिक दृष्टि से ये नई व्यवस्था को अपने ढ़ांचे में फिट देखना चाहते हैं जबकि स्वराज्य के साथ कोई शर्त नहीं हो सकती। मैं नहीं समझ पाता कि इकाईगत स्वतंत्रता के पक्षधर लोग ही इकाईयों के इकाईगत कार्यों की आदर्श संहिता बनाने के अनावश्यक कार्य में क्यों लगे हैं? जब इकाईगत स्वतंत्रता हो जायेगी तथा इकाईगत स्वतंत्रता में बाधक व्यवस्था से मुक्ति हो जायेगी तब आदर्श संहिता की सलाह देने की क्या आवश्यकता होगी? इस तरह स्वराज्य के ये आंदोलन कर्ता भी स्वराज्य की अवधारणा को अस्पष्ट तथा हौच पौच करने के जिम्मेंदार हैं।
5. ग्राम गणराज्य के पक्षधर कुछ लोग जिन्होने गांव से व्यक्ति या गांव से राष्ट्र के तालमेल पर कुछ नहीं सोचा, ये लोग गांव को सम्पूर्ण अधिकार देना चाहते है। ये लोग न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था अपने गांव को देना चाहते हैं। गांव अपने ग्रामीण क्षेत्र में न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था अपने गांव वालो की सहमति से कर सकता है इसमें कुछ भी गलत नहीं है। किन्तु गांव किसी व्यक्ति या परिवार के इकाईगत जीवन में उसकी सहमति के बिना हस्तक्षेप नहीं कर सकता। गांव को ऐसे हस्तक्षेप से कौन रोकेगा? आखिर कोई न कोई इकाई तो होनी ही चाहिये। यदि किसी इकाई को महसूस हो कि गांव द्वारा लिया गया निर्णय उसके साथ अत्याचार है तो उसके ऊपर की इकाईयां से न्याय करने और सुरक्षा मांगने का अधिकार है और यह अधिकार अन्त में समाज रूपी अन्तिम इंकाई तक सुरक्षित है। यह न्याय और सुरक्षा का अन्तिम अधिकार किसी बीच की इकाई को नहीं दिया जा सकता है। यही दो कार्य मुख्य रूप से विश्व सरकार के होने चाहिये जो समाज का प्रतिनिधित्व स्वर्ग। अभी विश्व व्यवस्था के अभाव में अन्तिम इकाई राष्ट्र तक है। अतः यह कार्य अस्थायी तौर पर राष्ट्र का है। मेरे विचार में प्रत्येक इकाई के इकाईगत निर्णय की स्वतंत्रता की गारंटी सबकी सहमति से संभव हो तो वह ऐसा कर सकती है।
6. कुछ लोग जिन्होने राजनीति से घृणा कर ली है। ये लोग भारतीय संविधान पर चर्चा से भी परहेज करते हैं और चुनावों से भी। अब तक चुनाव सत्ता परिवर्तन के उददेश्य से हुए हैं। जो लोग सत्ता के खेल को अनावश्यक समझ कर उससे दूर रहे उनके दृष्टिकोण को तो ठीक कहा जा सकता है किन्तु जो चुनाव शब्द से ही बिदकते हैं उनकी बात समझमें नहीं आती। यदि नई व्यवस्था के प्रारूप पर पूरे देश का जनमत होना हो और सरकार राजी न हो तो क्या उपाय है? संवैधानिक खाना पूरी करने के लिये किसी न किसी का नाम भरना होगा और पैसा भी जमा करना होगा। ये हमारे महापुरूष इस प्रक्रिया को भी चुनाव से जोड़ कर देखने की भूल करते हैं और उनकी इस भावनात्मक भूल से स्वराज्य अभियान में बाधा उत्पन्न होती है।

   मुझे खुशी है कि असंभव तक कठिन दिखने वाले स्वराज्य अभियान में धीरे–धीरे सफलता मिल रही है। अलग–अलग विचारों के अनेक विद्वान एक स्थान पर बैठकर प्रारंभिक विचार विमर्ष शुरू कर चुके है। वर्ष 1999 के अक्टूबर तक अन्तिम प्रारूप भी बनना कठिन नहीं दिखता! उसके बाद चेतना अभियान प्रारंभ होगा। अब तक के आकलन के अनुसार 2005 तक सफलाता के लिये आवश्यक जनमत खड़ा हो जायेगा और तब हम स्वराज्य के गांधी एवं विनोबा के स्वप्नो को पूरा कर सकेगें।

सम्भावित प्रश्नः–

प्रश्न 1– गांव को ही स्वराज्य की अन्तिम इकाई मानने में क्या हर्ज है?

उत्तर– गांव को इकाई मानने के बाद भी परिवार और व्यक्ति का अस्तित्व तो रहेगा ही। आप गांव को इकाई कहकर परिवार और व्यक्ति को अधिकार दें इसकी अपेक्षा व्यक्ति से प्रारंभ करके परिवार और गांव की अनेक समस्याएं परिवार तक सीमित कर हल हो जायेगीं। गांधी जी ने ग्राम स्वराज्य में व्यक्ति के अस्तित्व को नहीं नकारा है। उनकी दृष्टि में ग्राम स्वराज्य, राष्ट्रीय स्वराज्य के बाद एक सीढ़ी है जिससे हम

पूर्ण स्वराज्य की और जा सकते हैं। यदि कोई भाई ऐसा मानता है कि गांधी जी के अनुसार ग्राम स्वराज्य अंतिम इकाई थी तब भी हमें औचित्य के आधार पर परिवार और व्यक्ति के स्वराज्य को स्वीकार करना चाहिये।

प्रश्न–2. यदि सभी व्यक्ति परिवार या गांव स्वतंत्रता से निर्णय करेगें तो अराजकता हो जायेगी ?

उत्तर– स्वराज्य की इस परिभाषा में व्यक्ति, परिवार या गांव को कोई निर्णय करने की स्वतंत्रता हो, ऐसा नहीं है बल्कि वे इकाईगत निर्णय ही कर सकते हैं अर्थात ऐसे निर्णय जो किसी अन्य इकाई की स्वतंत्रता में बाधक न हों। अराजकता तो तब होगी जब किसी व्यक्ति या परिवार का कोई निर्णय या कार्य किसी अन्य व्यक्ति या परिवार की स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न करे। कोई इकाई अपनी इकाईगत सीमा में कुछ भी करे और दूसरे की स्वतंत्रता का अतिक्रमण न हो तो इसमें किसी अन्य को कोई आपत्ति क्यों हो?

प्रश्न 3– यदि कोई व्यक्ति सडक पर नंगा घूमें तो यह स्वराज्य होगा या नहीं?

उत्तर– कोई व्यक्ति अपने कमरे में नंगा रहे यह उसका स्वराज्य है। परिवार में नंगा रहे यह पारिवारिक स्वतंत्रता है और गांव में नंगा घूमें यह गांव की इच्छा पर निर्भर है। परिवार में नंगा रहने पर परिवार ही आपत्ति कर सकता है गांव नहीं।

प्रश्न 4– किस इकाई के कौन से इकाईगत अधिकार है और कौन से नहीं इसका निर्णय कौन करेंगे ?

उत्तर– प्रत्येक इकाई के नीचे वाली इकाईयां इकठ्ठी होकर अपनी ऊपर वाली इकाई के अधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण स्वर्ग।

प्रश्न 5– अभी हम लोग चुनकर जिन्हे भेजते है वे हमारी व्यवस्था करते है इसमें क्या दोष है ?

उत्तर – वर्तमान चुनाव प्रणाली ही दोष–पूर्ण है। एक सूर्य किरण पद्धति है जिसमें सूर्य की ऊर्जा सीधे पृथ्वी को प्राप्त होकर फिर धीरे–धीरे ऊपर जाती है दूसरी अग्नि ऊर्जा पद्धति है जिसमें ऊर्जा अपने मूल स्त्रोत से ही धीरे–धीरे ऊपर जाती है। अब तक हम लोग सूर्य ऊर्जा पद्धति से चल रहे है जहाँ सारे अधिकार मतदान के द्वारा ऊपर वाले को देते है तथा वह इच्छानुसार धीरे–धीरे हमारी व्यवस्था करता है। अब हम अग्नि ऊर्जा पद्धति अपनाना चाहते है जिसमें अधिकार धीरे–धीरे ऊपर की और आवश्यकता अनुसार बढ़ते है। एक बात मुख्य यह है कि यह चुनाव प्रणाली ही गलत है। वर्तमान चुनाव पद्धति के अनुसारहमें अयोग्य और अक्षम होने से अपने अधिकार दूसरों को देने चाहिए। यदि हम अयोग्य और अक्षम है और चुने गये लोग हमारे संरक्षक है तो संरक्षक का चुनाव तो और अधिक योग्य लोगों द्वारा किया जाना चाहिये। यदि संरक्षक संरक्षित से अधिक निःसंदेह योग्य हो तथा उसके निर्वाचन में संरक्षित की कोई भूमिका न हो। अनेक लोग मिल कर किसी व्यक्ति को प्रतिनिधि तो चुन सकते है परन्तु संरक्षक नहीं। प्रतिनिधि और संरक्षक में मौलिक अन्तर यह है कि प्रतिनिधि के अधिकारों पर चयनकर्ता का अंकुश होता है। प्रतिनिधि का अंकुश नियुक्तिकर्ता पर नहीं होता। अतः यह चुनाव पद्धति ही अव्यावहारिक है जिसमें प्रतिनिधि को चुने जाते ही उसे संरक्षक की भूमिका प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न 6– यदि कोई इकाई अपनी ऊपर वाली इकाई के निर्णय को स्वीकार न करे तथा संबंध विच्छेद कर ले तब क्या होगा?

उत्तर– यदि व्यक्ति परिवार से संबंध विच्छेद कर ले तो वह पृथक परिवार बना सकता है क्योंकि व्यक्ति सचल इकाई है। परन्तु यदि परिवार गांव के साथ नरहना चाहे तब कठिनाई है। यदि एक दो परिवार ऐसा प्रयास करते है तब तो वे सफल नहीं हो सकते परन्तु यदि अनेक परिवार ऐसा करते है और एक गांव में ही दो ग्राम सभाए बन जाये तो वैसी परिस्थिति में सिद्धान्ततः तो उन्हें वह छूट होनी चाहिये परन्तु व्यावहारिक स्वरूप में इसकी कोई सीमा रेखा बनानी चाहिये जो वे सब बैठकर भी बना सकते है और हम सब भी मार्गदर्शन कर सकते है। प्रारंभ में यह कठिनाई है जिस पर हमें विचार करना चाहिए।

प्रश्न 7– क्या सुराज्य शब्द निरर्थक है?

उत्तर – नहीं। स्वराज्य ही सुराज्य का मार्ग प्रशस्त करता है। जब इकाई को अपने हित अहित के अनुसार निर्णय करने और उसका कार्यान्वयन करने की स्वतंत्रता होगी तभी व्यवस्था दोष रहित होगी। यदि किसी इकाई की इच्छा के विरूद्ध उसके हित में निर्णय लिये और कार्यान्वित किये जाते है तो न स्वराज्य रहेगा न सुराज्य। अतः स्वराज्य के अभाव में सुराज्य की कल्पना व्यर्थ है। वर्तमान भारत में सुराज्य का प्रयास हुआ जो असफल रहा

प्रश्न 8– कोई भी इकाई किसी अन्य इकाई की इकाईगत स्वतंत्रता बाधित नहीं करेंगी। तब अनुशासन का क्या होगा ? यदि किसी गांव ने तय किया कि यहाँ कोई पायजामा नहीं पहिनेगा। एक व्यक्ति ने विरोध किया तब वह व्यक्ति गांव के निर्णय को मानने को बाध्य है या नहीं? साथ ही यह भी बताइये कि इकाई के निर्णय में बहुमत का प्रतिशत क्या होना चाहिये?

उत्तर – इकाईयां दो तरह की होती है (1) चल (2) अचल। चल इकाई का कोई भी सदस्य किसी भी प्रस्ताव के विरूद्ध बीटो का प्रयोग करके स्वयं को उक्त प्रस्ताव से अलग कर सकता है। इकाई चाहे तो उक्त सदस्य को अपना सदस्य रखे या हटा दे। वह सदस्य कोई अन्य समकक्ष इकाई में शामिल हो सकता है। परन्तु अचल इकाई में तो इकाईयां के हस्तक्षेप की सीमा भी तय करनी पडेगी और बहुमत का प्रतिशत भी। अचल इकाई में सर्वसम्मति का तरीका सिद्धातः तो ठीक है परन्तु व्यावहारिक रूप नहीं। परिवार तो स्पष्ट रूप से सचल इकाई है। अतः वहा तो निर्णय सर्वानुमति से संभव है। परन्तु गांव से लेकर राष्ट्र तक की इकाईयां के विषय में स्थिति कुछ भिन्न है। यदि गांव या जिले कीएक ही निश्चित इकाई होगी तथा उस इकाई का कोई सदस्य असहमत होने पर उसी क्षेत्र में रहते हुए नई इकाई नहीं बना सकता तो हमें ऐसी इकाईयां के इकाईगत अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या भी करनी होगी और निर्णय के लिये एक न्यूनतम प्रतिशत भी

बनाना होगा। अन्यथा हम उस इकाई को चल इकाई मान सकते है और किसी सदस्य को पृथक इकाई बनाने का अधिकार भी दे सकते हैं।

प्रश्न 9– चल इकाई और अचल इकाई को और स्पष्ट करें?

उत्तर– जब किसी संगठन की सदस्यता स्वैच्छिक हो तो उसक चल इकाई मानेंगे अर्थात वैसी ही तथा उसी स्तर की किसी अन्य इकाई की सदस्यता ग्रहण करने में कोई कठिनाई न हो। परन्तु यदि सदस्यता अनिवार्य या स्वाभाविक हो तथा सदस्यता छोड़ना प्राकृतिक कारणो से संभव न हो तो उसे अचल इकाई कहेंगे। वर्तमान समय में राष्ट से लेकर गांव तक की इकाईयां अचल है। इनका कोई भी सदस्य अपने निवास क्षेत्र का स्वाभाविक सदस्य है। परिवार भी रिश्तों के साथ जुड़ा होने से कुछ सदस्यता की छूट दी गई है। गांव सें लेकर राष्ट्र तक की इकाईयां के विषय में बहुत गम्भीरता से विचार करना होगा।

परिवार और उसकी संरचना

सृष्टि के प्रारम्भ से ही परिवार की संरचना शुरू हो गई। दुनियां के किसी भी देश में किसी भी समय परिवार शब्द समाप्त नहीं हुआ भले ही समय समय पर उसके अर्थ बदलते रहे हो। पुराने समय में परिवार का अर्थ था एक ही चूल्हे तथा एक मुखिया की व्यवस्था के अन्तर्गत रहने वाले रक्त संबंधियों का समूह। इस परिभाषा में बाद में संशोधन हुआ और परिवार का अर्थ पिता–माता और बच्चों तक सिमट गया। यदि उसमें चाचा–चाची आदि भी शामिल हो तो उसे संयुक्त परिवार कहा जाने लगा। अनेक देशों में सयुक्त परिवार के स्थान पर कबीला शब्द भी प्रचलित हुआ। प्राचीन काल के परिवार में सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार होता था तथा परिवार के प्रत्येक सदस्य के सुख दुख का दायित्व परिवार का होता है। बाद में यह व्यवस्था बदल गई और सम्पत्ति व्यक्तिगत तथा सुख दुख भी व्यक्तिगत होने लगा। चीन में परिवार की इस परिभाषा को समाप्त करके एक नई परिभाषा तैयार हुई जिसे कम्यून कहा गया। इसमें रक्त संबंध से कोई मतलब नहीं रखा गया बल्कि आपसी सहमति के आधार परएक साथ रहने वालो को कम्यून नाम दिया गया है।

यदि हम दुनियां भर का विचार करे तो पश्चिम की परिवार व्यवसथा टूट गई है, जबकि चीन रूस आदि में समाप्त। भारत में वर्तमान व्यवस्था अब भी रक्त संबंधो के साथ जुड़ी है यद्यपि परिवार की भावना, संरचना तथा व्यवस्था लगातार टूटती जा रही है। यदि पचास वर्ष पूर्व के भारत में परिवारों की सदस्य संख्या का औसत सात था तो दस वर्ष पूर्व यह औसत घटकर पांच और अब तो पांच सदस्य प्रति परिवार से भी कम हो गया है। स्वतंत्रता के समय तेंतीस करोड़ की आबादी में यदि पांच करोड़ परिवार थे तो आज सौ करोड़ की आबादी में पचीस करोड़ तक परिवार बन गये है। परिवार में टूटन लगातार तीव्र गति से जारी है।

1 भारतीय संविधान का द्विस्तरीय होना– भारतीय संविधान ने व्यवस्था की दो ही इकाईयां मानी है– 1 व्यक्ति 2 समाज। बीच में परिवार को संवैधानिक मान्यता प्रदान नहीं की गई यहाँ तक कि सम्पूर्ण संविधान में कही भी एक बार भी परिवार शब्द शामिल नहीं है। इस तरह परिवार शब्द, उसकी संरचना तथा उसकी व्यवस्था संवैधानिक आधार पर न होकर शासकीय आधार पर हुई।

2 राज्य द्वारा व्यक्ति का अधिक महत्व– परिवार में रहते हुए भी व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की छूट देना भारतीय कानून की एक बहुत बड़ी कमजोरी रही। प्राचीन काल में तो परिवार छोड़ते समय भी सम्पत्ति पर व्यक्ति का कोई हिस्सा नहीं होता था जिसे उलट कर ऐसा बना दिया गया कि परिवार में रहकर भी पृथक सम्पत्ति रख सकते है। पता नहीं कि कानून बनाने वालो ने ऐसी गलत व्यवस्था क्यों की किन्तु ऐसी व्यवस्था हुई अवश्य। इसके परिणाम स्वरूप सम्पत्ति संबंधी विवाद बढ़ने लगे तथा परिवार में रहते हुए परिवार से पृथक सोचने की प्रवृति को भी प्रोत्साहन मिला। इसी तरह इन्कमटैक्स संबंधी कानूनों ने भी परिवार प्रणाली को बहुत क्षति पहुचाई है। अनेक परिवारों को एक साथ रहते हुए भी पृथक पृथक परिवार का रजिस्टेशन कराने की आवश्यकता महसूस हुई।

3 समाजशास्त्रियों द्वारा व्यक्ति केन्द्रित भावना का विस्तार– अधिकांश धार्मिक और सामाजिक विद्वान व्यक्ति को स्व केन्द्रित करने का अभियान चला दिये। परिवार भावना से विरक्ति का प्राचीन काल का उद्देश्य व्यक्ति को परिवार से उठाकर समाज केन्द्रित करना था। किन्तु आज का साधु सन्तों का प्रचार व्यक्ति को परिवार से हटाकर स्व केन्द्रित कर रहा है।

4 प्रत्येक व्यक्ति का स्व केन्द्रित होना– प्रत्येक व्यक्ति स्वयं तो अधिक से अधिक स्वतंत्रता चाहता है किन्तु वह साथ ही साथ यह भी चाहता है कि दूसरे लोग अपना वैसा आचरण रखे जैसा वह ठीक समझता है। वह स्वयं तो अनुशासन का पालन नहीं करता किन्तु दुसरो से अनुशासन की अपेक्षा करता है। परिणाम यह हुआ कि समाज में छोटे छोटे राष्ट्र, राष्ट्रमें छोटे छोटे प्रान्त या जिले, जिले में छोटे छोटे गांव तथा गांव में छोटे छोटे परिवारों का क्रम जारी है। प्राचीन समय में नीचे वाली इकाई ऊपर वाली इकाई से संबद्ध रहना उचित समझती थी। अब ऊपर वाली इकाई नीचे वाली इकाई को संबद्ध रखकर अपने अधीन रखना चाहती है जबकि नीचे वाली इकाई अधीन तो दूर की बात है सम्बद्ध भी नहीं रहना चाहती।

5 वैधानिक तरीके से मुखिया का चयनन होना– प्राचीन समय में परिवार का एक मुखिया निश्चित होता था। या तो वह सबसे बड़ा लडका होता था या मुखिया की मृत्यु पर चुन लिया जाता था। अब परिवार में जो बड़ा है वह निरन्तर मुखिया बने रहना अपना पारंपरिक अधिकार समझता है चाहे उसमें योग्यता हो या नहीं, चाहे उसे परिवार के लोग चाहे या न चाहे। ऐसी स्थिति में परिवार के अन्य लोग घुट घुट कर रहते है या परिवार छोड़ कर अलग हो जाते है या वे धीरे–धीरे लड़ झगड़कर मुखिया को दूर हटाकर नये मुखिया का अस्तित्व खडा कर देते है। मुखिया परिवर्तन की यह कठिनाई आम तौर पर परिवारों में घुटन, टूटन या कलह का कारण बनती है।

6 उम्र और लिग के आधार पर बनने वाले संगठन– आजकल समाज में महिला जागृति, युवा जागृति के नाम पर एक नये फैशन की हवा चल पडी है। महिला, बालक और पुरूष सब एक परिवार के ही अंग थे, किन्तु अब इनकी पृथक पृथक चिन्ता करने वाले कानून या आन्दोलनो ने परिवारों के भीतर द्वेष का नया वातावरण तैयार कर दिया है। कुछ तथा कथित समाज चिन्तको ने तो परिवार में महिलाओं को सप्ताह में एक दिन का अवकाश जैसा अदूरदर्शी और हास्यास्पद कानून तक बनवाने का प्रयास किया। ऐसी बातो ने परिवार सामंजस्य तथा परिवार भावना को गंभीर क्षति पहुचाई है। परिवार में स्त्रियो को समान अवसर नहीं मिलना व्यवस्था के लिये कलंक है तथा इस कलंक को धोने के नाम पर परिवार के स्त्री पुरूषों के बीच दरार उत्पन्न करना घातक है।

समाजशास्त्री चाहे स्वीकार करे या न करे किन्तु यह सच है कि भारत में परिवारों का अस्तित्व, संरचना तथा परिवार भावना निरंतर टूटन की ओर बढ़ रही है। यह एक खतरे की घंटी है क्योंकि परिवारों का टूटना बहुत घातक है। परिवार भावना व्यक्ति में ऊपर की इकाई से सम्बद्ध रहने की भावना की पहली इकाई है। परिवारों की संरचना में व्यवस्था का सारा बोझ सरकार या समाज पर इकटठा न होकर बंट जाता है जिससे सर्वोच्च इकाई पर अनावश्यक बोझ नहीं पड़ता। परिवार संरचना ऊपर की इकाईयां के अधिकारों का विकेन्द्रीकरण तथा व्यक्ति की उच्श्रृंखलता पर अनुशासन का एक मात्र उपाय है। आज समाज सत्ता के केन्द्रीकरण तथा व्यक्तिगत उच्श्रृंखलता की छोड़ के बीच पिस रहा है। परिवार रचना इन दोनों टकरावों के बीच का ठहराव होने से आवश्यक है।

यह तो सभी मानते है कि परिवार प्रणाली छिन्न भिन्न हो रही है तथा परिवार प्रणाली का सफलता पुर्वक अस्तित्व आवश्यक है। किन्तु कैसे? यह सोचना अधिक आवश्यक है। जिन परिवारों के कठोर अनुशासन है, वहा घुटन बढ़ते बढ़ते टूटन में बदल जाती है। ऐसे परिवारों में मुखिया के सामने अन्य सदस्य निस्तेज हो जाते है। दूसरी ओर जिन परिवारों में अनुशासन का अभाव है वहा आपसी टकराव और उच्चश्रृंखलता के कारण असफलता हाथ लगती है तथा लड़–झगड़ कर परिवार टूट जाते है। कोई तीसरा रास्ता उपलब्ध नहीं। अतः अनुशासनहींनता तथा कठोर अनुशासन के बीच का ही मार्ग चुनना होगा। मैंने इस संबंध में सुझाव दिया है कि प्रत्येक परिवार का संचालन एक मुखिया करे जिसे संवैधानिक मान्यता प्राप्त हो। इस तरह अनुशासन बना रहेगा। दूसरी बात यह है कि मुखिया का चुनाव परिवार के लोग किसी भी पद्धति से करे ऐसे चयनित मुखिया को गुप्त मतदान द्वारा परिवार के सदस्यों की सहमति अनिवार्य होगी। इस तरह परिवारों में घुटन नहीं रहेगी। अनेक विद्वान मेरे इस सुझाव को परिवारों में द्वेष के बीजारोपण के रूप में देखते है किन्तु परिवारों में मुखिया का चुनाव न हो तो क्या हो ? सब बैठ कर तय कर ले तो वह तय सहमति से हो कि दबाव से। दबाव है कि नहीं यह बात यदि गुप्त मतदान द्वारा पूरी हो तो आपत्ति क्या है। अब तक मुखिया चयन का परंपरागत तरीका घुटन और टूटन की जड़ है। इस नई प्रक्रिया से परिवारों में जो द्वेष पनपेगा वह हमारे लिये एक आवश्यक बुराई है। यदि हम भावना में बहकर परम्पराओं की लीक पकड़े रहे तो परिवार व्यवस्था ही समाप्त हो जायेगी। मुखिया– चयन और गुप्त मतदान प्रणाली एक बार तो परिवारों में टूटन का कारण दिखेगी किन्तु सच्चाई यह है कि यही व्यवस्था बाद में परिवारों को स्थायित्व प्रदान करेंगे।

दूसरा प्रावधान मैंने यह किया है कि भारत के प्रत्येक नागरिक के लिये न्यूनतम दो का परिवार बनाना अनिवार्य कर दिया है। जो व्यक्ति किसी एक व्यक्ति से भी सामंजस्य हेतु प्रतिबद्ध होने को तैयार नहीं है उसे भारत की नागरिकता नहीं मिल सकती भले ही व्यक्ति के रूप में वह रह सकता है। उसे भारत के अन्य नागरिकों की व्यवस्था में भागीदारी की अनुमति नहीं होगी। अतः उसे मतदान का भी अधिकार नहीं दिया गया है। यदि वह व्यक्ति भरण पोषण तक सीमित रहे तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति शासन में निहित करके उसके भरण पोषण का दायित्व शासन का होगा अन्यथा वह मतदान का अधिकार छोड़कर सभी प्रकार समान रूप से जी सकता है यह प्रावधान इसलिये आवश्यक है कि जो व्यक्ति अन्य लोगों की व्यवस्था में भागीदारी चाहता है उसे किसी एक व्यक्ति के साथ रहने की आवश्यकता पूरी करनी ही होगी।

परिवार के संबंध मेंमेरा तीसरा सुझाव है कि परिवार की परिभाषा में ही संयुक्त सम्पत्ति शब्द जोड़ दिया गया है। इस तरह न तो कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति रख सकेगा न ही वह परिवार की इच्छा के विरूद्ध व्यय कर सकेगा। परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर भी सभी सदस्यो का समान अधिकार होगा। यदि कोई सदस्य परिवार छोड़ता है तो वह सम्पूर्ण सम्पत्ति में परिवार की कुल सदस्य संख्या के आधार पर हिस्सा पायेंगे। इस संशोधन से सम्पत्ति में से अधिकार की सभी जटिलताए समाप्त हो जायेगी। इस संशोधन से महिलाओं का भी परिवार की सम्पत्ति में समान हक होगा तथा वृद्ध लोगों की मृत्यु के बाद बंटवारे का कोई विवाद नहीं होगा क्योंकि मृतक की सम्पत्ति पर किसी का अधिकार न होकर वह परिवार की सम्पत्ति होगी। विवाह के बाद लड़की यदि ससुराल पक्ष की सदस्य बनती है तो वह पिता परिवार से अपना हिस्सा लेकर पति परिवार में जायेगी और पति परिवार की सम्पत्ति में उसका भविष्य में समान हिस्सा होगा। मेरे विचार में पारिवारिक सम्पत्ति में विभाजन का यह न्यूनतम विवादस्पद तथा सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

मेरा चौथा सुझाव है कि परिवार की परिभाषा में संयुक्त सम्पत्ति के साथ साथ संयुक्त उत्तरदायित्व शब्द भी शामिल है। इसका अर्थ यह है कि परिवार के प्रत्येक सदस्य के आचरण का वैसा ही सयुक्त दायित्व होता है जैसा मंत्री मण्डल का है। किसी भी सदस्य के लाभ हानि अच्छे बुरे

का परिणाम सबको समान रूप से मिलेगा। यदि परिवार का कोई एक सदस्य अपराध करता है और न्यायालय समझता है कि परिवार के अन्य सदस्यो ने अपने दायित्व का ठीक से निर्वहन नहीं किया तो वह परिवार के अन्य सदस्यो को भी सजा दे सकता है। इस प्रावधान से समाज में अपराधों में बहुत कमीहोगी तथा शासन पर बोझ भी कम हो जायेगा। इस प्रावधान में यह भी सुझाव है कि ऐसे अपराधी के दण्ड में उसी परिवार की सहभागिता होगी जिसका वह सजा पाते समय सदस्य होगा न कि उसको जिसका वह अपराध करते समय सदस्य होगा। इस तरह यदि कोई अपराधी आपकी बिना सहमति के अपराध करता है तो उसे आप अपने परिवार से हटाकर स्वयं को सुरक्षित कर सकते है।

मेरा पांचवां सुझाव यह है कि परिवार का निर्माण आपसी सहमति के आधार पर हो। इसमें रक्त संबंध अनिवार्य न हो। इससे दस साधु भी मिलकर एक परिवार बना सकते है। या कोई किसी अन्य जाति का व्यक्ति भी आपसी सहमति से परिवार में शामिल हो सकता है। यह सुझाव भारतीय परंपरा और साम्यवादी कम्यून पद्धति का मिला जुला स्वरूपहै। इस सुझाव से भी परिवार निमार्ण की अनेक जटिलताए समाप्त हो सकेगी।

मेरा छठवॉ सुझाव है कि परिवार में एक प्रमुख होगा जो उस परिवार का सबसे अधिक उम्र का व्यक्ति होगा। उक्त प्रमुख की भूमिका परिवार में वही होगी जो भारत में राष्ट्रपति की होती है। कार्यकारी अधिकार तो प्रधानमंत्री रूपी मुखिया के पास होगें किन्तु अन्तिम अधिकार प्रमुख के पास ही होगें। इस सुझाव से मुखिया चयनसे होने वाला बुर्जुगो के मन का हीनभाव समाप्त होगा तथा पीढ़ियो के बीच का टकराव टलेगा। युवा और वृद्ध के बीच की दूरी हटाने का यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

मेरा सातवॉ सुझाव है कि प्रत्येक परिवार का एक प्रमुख और उतने मुखिया होगे जितनी ग्राम सभाओ में परिवार के लोग रहते है। इस तरह कई गांवो में रहने वाले लोगों का एक परिवार बन सकेगा तथा मुखिया के माध्यमसे उक्त परिवार का ग्राम सभा से संबंध रहेगा।

प्रश्न 1– जिस प्रकार चुनावों ने भारत में गांव तक की व्यवस्थामें दो गुट बना दिये है उसी तरह चुनाव की अनिवार्यता परिवारों में भी गुटबन्दी शुरू कर देगी। अब तक परिवार इस बीमारी से अछूते है?

उत्तर – आपका कथन सही है। चूंकि चुनावों से इकाई के अन्दर विवाद होते है अतः क्या भारत से चुनावों को खतम कर दिया जाये? आप बताइये कि चुनावों से होने वाला विवाद अधिक नुकसान करेंगे कि तानाशाही ? यदि किसी राष्ट, प्रदेश या गांव में तानाशाही उचित नहीं है तो परिवार में तानाशाही क्यों उचित है ? सभी सदस्यो की मुखिया के प्रति वास्तविक सहमति जानने का मतदान के अतिरिक्त क्या तरीका है यह आप बताइये ? आप जरा इन परिवारों की युवा पीढ़ी या महिलाओं से पूछ कर देखे जहा अयोग्य मुखिया परिवार को पूरी तरह बर्बाद कर रहा है किन्तु छोड़ नहीं रहा या ऐसे परिवारों का हाल पूछिये जहा पीढ़ियों का टकराव बाहर आ रहा है या घुटन के रूप में व्याप्त है। अधिकांश युवाओ की कुंठा या अनुशासन हीनता का प्रमुख कारण है मुखिया में परिवर्तन की व्यवस्था का अभाव। जब किसी मुखिया को किसी तरह कमजोर किया जाता है तो विवाद उत्पन्न होने से उन्हें परिवार में सम्मान भी नहीं मिलता।

प्रश्न–2 आपने परिवार में दो पद निर्मित कर दिये। इतने पदो की आवश्यकता क्या है? ये पद जटिलता को कम न करके बढ़ायेगे ही ?

उत्तर– परिवार के सम्पूर्ण अधिकार एक व्यक्ति के पास केन्द्रित करना सुविधाजनक तो हो सकता है पर उचित नहीं। अधिकारों का विकेन्दीकरण हो और सब लोग आपसी सहमति और सूझ बूझ से परिवार चलावे यह प्रणाली निश्चितही उस प्रणाली से अच्छी होगी जिसमें एक व्यक्ति निर्णय करे और सब लोग पालन करें। इन दोनों पद्धतियो में कुछ कुछ गुण और दोष विद्यमान है। किन्तु प्रजातांत्रिक प्रणाली अनेक दोषो के बाद भी एकात्मक प्रणाली से अच्छी होती है।

प्रश्न–3 कोई व्यक्ति अकेला रहे तो उसे मतदान से वंचित करना उसके मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है। ऐसा क्यों कर रहे है?

उत्तर– मतदान किसी व्यक्ति का मूल अधिकार न होकर संवैधानिक अधिकार मात्र है। मतदान का अर्थ है व्यवस्था में सहभागिता। यदि कोई व्यक्ति अकेला ही रहना चाहता है तो उसे दूसरों के विषय में सोचने, करने या सहभागिता का क्यों अधिकार होना चाहिये ? दूसरे लोग चाहें तो उसे अधिकार दे या न दें। किन्तु वह उसका संवैधानिक अधिकार नहीं हो सकता। फिर एक बात और है कि हम परिवार प्रणाली की व्यवस्था कर रहे है जिसमें परिवार की रचना अनिवार्य है। न्यूनतम दो व्यक्तितक ही परिवार बन सकता है। यदि व्यक्ति को वे सारे अधिकार समान रूप से प्राप्त होगे जो नागरिक को है तो कोई व्यक्ति नागरिक क्योंनहीं बनना चाहेगा? यह भी सोचना होगा कि यदि मतदान के अधिकार से उसे वंचित न करें तो प्रश्नकर्ता यह सुझाव दे कि व्यक्ति और नागरिक के बीच व्यक्ति को अन्यकिस अधिकार से वंचित करे या व्यक्ति की अपेक्षा नागरिक को क्या अधिक अधिकार दे?

प्रश्न–4 सम्पत्ति सबकी सामूहिक होगी। यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन काल में ही दान पत्र या विल लिख दे तो क्या होगा ?

उत्तर – परिवार में रहते हुए किसी सदस्य का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होगा। गांधी जी के ट्रष्टीशिप और पूंजीवाद के व्यक्तिगत सम्पत्ति के बीच परिवार और पारिवारिक सम्पत्ति का रास्ता चुना गया है। इसमें परिवार से हटते हुए सदस्य का सम्पत्ति पर पूरा अधिकार और रहते हुए शून्य अधिकार माना गया है। मरने के पूर्व कोई व्यक्ति सम्पत्ति किसी को देना चाहता है तो उसे परिवार छोड़ने से ही सम्पत्ति पर अधिकार मिलेगा। अन्यथा नहीं।

प्रश्न–5 लड़की पिता परिवार से जाते समय अपना हिस्सा लेकर जयेगी और पति परिवार में शामिल करेगी यह प्रक्रिया बहुत गलत है और विवादास्पद होगी ?

उत्तर– यह प्रक्रिया जटिल, गलत और विवादास्पद होगी और जो वर्तमान प्रक्रिया है जिसमें विवाह के बाद भी पति परिवार में गुजारा भत्ता तथा पिता परिवार में हिस्सा मिलेगा यह प्रक्रिया कम जटिल है कि अच्छे अच्छे वकील भी नहीं जानते कि लड़की को पिता और पति, परिवार में कब कितना और किस तरह का हक है। वकीलो के स्वर्ग से छुटकारा पाने हेतु ही यह सीधा सा प्रावधान रखा गया है।

प्रश्न–6 महिलाओं को सम्पत्ति में समान अधिकार देना उचित नहीं ?

उत्तर– महिलाओं को सम्पत्ति में समान अधिकार देने से या तो वे लोग आपत्ति करेंगे जो महिलाओं की समानता के विरोधी है या वे जो महिला समानता के नाम पर राजनीति करना चाहते है। सच्चाई यह है कि परिवार में महिलाओं को व्यवस्था में समानता का अधिकार तथा सम्पत्ति में समान अधिकार मिलने के बाद महिला पुरूष के बीच विवाद की कोई स्थिति ही नहीं रहेगी। जो महिलाएँ समानता के नाम पर पुरूषों से अलग गुट बनाकर राजनीति का लाभ लेना चाहे उनकी बात को छोड़ देना ही उपयुक्त है।

प्रश्न–7 किसी परिवार का एक सदस्य अपराध करे और परिवार में सबको सजा हो यह कितना न्याय संगत है ?

उत्तर – चार बाते बिलकुल स्पष्ट है–

1. न्याय के प्रयास व्यवस्था को कमजोर करते है।
2. व्यवस्था के प्रयास न्याय को कमजोर करते है।
3. न्याय की प्राप्ति के लिये व्यवस्था अनिवार्य है।
4. व्यवस्था को न्यायपूर्ण होना ही चाहिए। अन्यायपूर्ण व्यवस्था को आतंक कहना चाहिये।

ऊपर की दोनों बाते नीचे की दोनों बातो से बिल्कुल विपरीत है किन्तु है विल्कुल सच। अधिक से अधिक न्याय की मांग व्यवस्था को कमजोर करती है और उसका अप्रत्यक्ष परिणाम न्याय में कमी के रूप में प्रकट होता है। आज भारत में यही हो रहा है कि हम जितनी व्यवस्था करने में सक्षम है उससे बहुत अधिक आदर्श का लक्ष्य लेकर चल रहे है। जैसे किसी के पास चार रोटिया है और आठ खाने वाले। यदि वह व्यक्ति प्रत्येक को एक एक रोटी देने का लक्ष्य निर्धारित कर ले तो यह उसकी मूर्खता होगी। व्यवस्था में अधिक न्याय की घोषणा का दुष्परिणाम हम भुगत रहे है। अतः हमें अपराधों पर नियंत्रण करना है। यह हमारा लक्ष्य है। इसके लिये हमें परिवारों पर भी कुछ दायित्व अवश्य डालना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यदि किसी व्यक्ति के अपराधों का लाभ पूरे परिवार ने उठाया है तो सजा अकेले को क्यों? जब परिवार जानता था तो उसके पहले ही रोकना या निकाल देना था। यदि परिवार सिद्ध कर दे कि उसको पूर्व जानकारी नहीं थी तो कोर्ट छोड़ सकता है। अन्तिम बात यह है कि कोई परिवार यदि सजा नहीं चाहता है तो अब भी उस व्यक्ति को परिवार से निकाल क्योंनहीं देता? यदि वह परिवार विहीन होगा तो उसके साथ अन्य को सजा नहीं होगी और यदि किसी अन्य परिवार में जायेगा तो वह परिवार भुगतेगा। मेरे विचार में इस व्यवस्था से अपराध बहुत रूक सकते है। वर्तमान व्यवस्था में भी मैंने सुना है कि कभी कभी सामूहिक जुर्माना होता है। यह सामूहिक जुर्माना पूरे गांव या क्षेत्र को हो जाता है। मैं तो सिर्फ परिवार तक ही सीमित कर रहा हूँ।

प्रश्न–8 परिवार निर्माण में रक्त संबंधो की अनिवार्यता को क्यों हटाया गया ?

उत्तर – इससे क्या कठिनाई है? आप रक्त सम्बन्धो के आधार पर परिवार बनावें इसमें किसी को आपत्ति नहीं है तो आपको क्यों आपति है दूसरों पर, यदि बाधक नहीं है। मेरे विचार में परिवार बनाने में आपसी सहमति की अधिक जरूरत है। अतः मैंने सहमति को अनिवार्य शर्त माना है।

प्रश्न–9 इस प्रणाली में बच्चो को भी परिवार में सम्पत्ति या परिवार व्यवस्था में समान अधिकार दे दिया। फिर उनका पिता से कितना संबंध रहा ?

उत्तर– अब तक दो प्रणालियॉ है।

1. पश्चिम के देशों में जहॉ बच्चे माता पिता के साथ जुड कर रहते है।
2. साम्यवादी देशों की जहॉ बच्चे राष्ट्र के हो जाते है, माता पिता सिर्फ पालन पोषण तक सीमित है।मेरा मत दोनों से अलग है। बच्चे न माता पिता के हो न ही राष्ट्र के, बल्कि वे परिवार के होगे। बच्चे के जन्म लेते ही उसे परिवार के एक सदस्य के रूप में सभी अधिकार प्राप्त हो जायेगे। माता–पिता परिवार की ओर से उनकी व्यवस्था करेंगे। व्यक्तिगत पहचान भी परिवार से ही होगी। मां बाप से नहीं। नहीं तो दुहरा आचरण शुरू हो जाता है जो घातक होता है। अतः बच्चो को परिवार का ही अंग होना चाहिये।

प्रश्न–10 पति पत्नी की क्या व्यवस्था होगी ?

उत्तर – पति पत्नी की संवैधानिक स्थिति कुछ नहीं होगी। परिवार की व्यवस्था होगी। परिवार आपस में किस प्रकार रहता है वह परिवार तय करें। संविधान तो सिर्फ इतना ही ध्यान रखेगा कि किसी व्यक्ति की इच्छा और सहमति के बिना उसे परिवार मैंनहीं रखा जा सकता। इसके बाद परिवार के पारिवारिक मामलो में संविधान या राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा।

प्रश्न–11 यदि परिवार के सदस्यो में विवाद होता है या बाहर किसी से झगडा हो तब कैसे निपटेगा?

उत्तर – मैंने सुझाव दिया है कि परिवार में व्यक्ति की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं होगी। यदि उसके साथ कोई अन्याय परिवार में होता है तो उसे तब तक परिवार में निपटाना होगा जब तक वह परिवार छोड़ने की मानसिकता न बना ले। राज्य के पास जाने के लिये उसे पहले परिवार छोड़ना होगा क्योंकि राज्य इकाइयों को सुरक्षा देगा न कि इकाई के अन्दर हस्तक्षेप करेंगे। इसी तरह यदि किसी अन्य परिवार के सदस्य से कोई विवाद होता है तो परिवार का मुखिया ही राज्य के पास जा सकता है व्यक्ति नहीं। यदि मुखिया तत्काल उपलब्ध नहीं है और

राज्य तक सूचना तत्काल अनिवार्य है तो ऐसी स्थिति प्रमाणित करते हुए व्यक्ति राज्य तक शिकायत कर सकता है जिसे मुखिया पुष्ट करेंगे।

प्रश्न–12 परिवार प्रमुख की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर – परिवारों में बुर्जूगो को बिल्कुल किनारे कर देने से उनमें हीन भावना आ रही है। परिवारों में एक Generation gap बढ़ रहा है। इस प्रमुख प्रणाली से बुर्जुगो का आत्म सम्मान भी जीवित रहेगा और उनका सीमित नियंत्रण भी परिवार पर रहेगा। मैंने यह प्रावधान सत्ता के हस्तान्तरण के विवाद को कम करनेके उद्देश्य से जोड़ा है और कुछ नहीं। मैंने प्रमुख के संबंध में लिखा है कि परिवार का संचालन प्रमुख की जानकारी और नाम से किया जायेगा किन्तु उसमें परिवार प्रमुख का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। इस तरह मैंने परिवार के बुर्जुगो को परिवार व्यवस्था से जोड़ने का प्रयास किया है।

प्रश्न–13 आपका यह सुझाव यूटोपिया सरीखा है।

उत्तर – वर्तमान जड़ता को समाप्त करने के लिये दिया जाने वाला हर सुझाव यूटोपिया ही होता है। आप दूर से ऐसी बात कह रहे है। यहाँ आने पर आपको व्यावहारिकता का पता चलेगा। मैंने जो सुझाव दिये है उनकी व्यावहारिकता का परीक्षण अपने परिवार पर किया है। में जिस परिवार का सदस्य हूँ वह एक बड़ा और संयुक्त परिवार है। भारत में यह एक मात्र परिवार है जिसमें सम्पत्ति के समान अधिकार का एग्रीमेंट किया हुआ है। महिलाओं को भी सम्पत्ति में समान अधिकार है। परिवार के सभी सदस्य मिल बैठकर व्यवस्था करते है। परिवार में आधुनिकता की बीमारी नहीं है। किन्तु प्राचीन की जड़ता भी नहीं है। परिवार के सभी सदस्य संतुष्ट है। परिवार के बाद मैंने गांव को भी इकाई के रूप में विकसित करने का प्रयास किया है जो आप प्रत्यक्ष देख सकते है। में यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि आप जिसे यूटोपिया कहते है वह मेरे परिवार, मेरे शहर, मेरे क्षेत्र के लाभ है तो आपके यथार्थ से अच्छा है। में चाहता हूँ कि भारत में जो कुछ यथार्थ है उसमें परिवर्तन आवश्यक है और उस दृष्टि से मेरा भी एक प्रयोग है जो देखने और विचारने योग्य है।

प्रश्न–14 आपका कथन गले से नीचे नहीं उतर रहा क्योंकि मन में अनेक शंकाएं है ?

उत्तर– आपके समक्ष चार ही स्थितियॉ हो सकती है–

आप वर्तमान स्थिति में संतुष्ट हों।

आप मेरे सुझाव से अधिक उपयुक्त सुझाव दें।

आप सुझावो को स्वीकार करें।

आप सुधारों को असंभव मानकर चुप बैठ जावे।

यदि आप पहले या चौथे विचार के हो तो विचार–मंथन अनावश्यक है। अन्यथा विचार मंथन का लाभ संभव है। आप कुछ बेहतर सुझाव दे तब तो में भी आगे संशोधन कर सकता हूँ क्योंकि मेरे विचार न तो अंतिम है न ही आदर्श।मैंने तो वर्तमान से कुछ अच्छी स्थिति के उपाय सुझायें है। संभव है कि आपके सुझाव और अच्छे हो। किन्तु देखा यह जा रहा है कि अधिकांश विद्वान सिर्फ प्रश्न उछालते है। किसी भी अच्छे सुझाव पर प्रश्न खडे हो सकते है। मैं चाहता हूँ कि आप प्रश्न के साथ साथ सुझाव भी भेजे। शंकाए करना अनुचित नहीं क्योंकि शंका ही खोज के मार्ग प्रशस्त करती है। आवश्यक सिर्फ यही है कि शंका का उद्देश्य खोज होना चाहिये।,

उपरोक्त विचार में अनेक बाधाएं हैं–

वे लोग जो परंपरावादी हैं। किसी भी नये विचार में इन्हें भारतीय संस्कृति पर संकट दिखने लगता है। ये लोग न तो मंथन करते है न ही प्रश्न करते है बल्कि यथा स्थिति के पक्ष में निर्णायक निष्कर्ष लिख देते है। ये परंपरावादी अपने कथन की पुष्टि के लिये कोई तर्क देने की अपेक्षा अपने कथन के साथ किसी महापुरूष का नाम लिखकर दूसरों का मुंह बन्द करने के आदी है।

वे लोग जो निराश है और किसी भी प्रयास की सफलता पर जिन्हे विश्वास नहीं। ये लोग सिर्फ प्रश्न खडे कर सकते है। इसके आगे कुछ करने को तैयार नहीं है।

वे लोग जो चुनाव शब्द से ही बिदकते है। यद्यपि चुनाव के स्थान पर वे कोई अन्य मार्ग नहीं सुझा पाते। सर्वसम्मति हमारा पहला प्रयास हो सकता है किन्तु अन्तिम नहींक्योंकि सर्वसम्मति के गुण–दोष दोनों ही है। सर्वसम्मति विवादो को टालती है यह उसका एक लाभ है किन्तु सर्वसम्मति को यदि अधिक दूर तक खीचा जायेगा तो अन्त में शरीफ आदमी घाटे में रहेगा, यह उसकी हानि है। सर्वसम्मति के प्रयास प्रायः इच्छा के विरूद्ध थोपने की प्रक्रिया भी बन जाते है। अतः सर्वसम्मति सहमति से ही बननी चाहिये और यदि न संभव हो तो विवादो को टालने की अपेक्षा निपटाने की प्रक्रिया अपनानी चाहिये। चुनाव हमारा अन्तिम विकल्प ही होना चाहिये किन्तु चुनाव एक विकल्प तो है ही।

वे जो विचारों से स्पष्ट नही है। ये लोग विवाह, शराब, जुआ, महिला पुरूष का कार्य विभाजन जैसे पारिवारिक कार्यों में तो शासकीय हस्तक्षेप की मांग करते है जबकि सुरक्षा, न्याय जैसे मुद्दे सरकार से हटाने की बात करते है। वे नहीं समझते कि वे दुहरी मानसिकता के कारण

समस्या पैदा कर रहे है। अन्त में यही कहना चाहता हूँ कि वर्तमान अव्यवस्था का एक मात्र हल परिवार व्यवस्था को संवैधानिक स्वरूप प्रदान करना है। मेरे विचार में परिवार को एक इकाई मान लेना न्याय संगत भी है और व्यवस्था की दृष्टि से भी उचित।

(4) स्वराज्य व्यवस्था में ग्राम से राष्ट्र तक की भूमिका

स्वराज्य का एक अर्थ होता है –प्रत्येक इकाई को अपने इकाईगत निर्णय की स्वतत्रंता। इसके अतरिक्त स्वराज्य की कोई परिभाषा अधूरी ही रहेगी। इस परिभाषा के अनुसार व्यक्ति और समाज दो मूल इकाईयां होगी और उनके बीच में कुछ व्यवस्थागत इकाइयां होगी जिन्हे मैंने परिवार, ग्राम, जिला, प्रान्त और राष्ट्र के रूप में स्वीकार किया है। समाज की कोई व्यवस्था होने तक अस्थायी रूप से राष्ट्र मूल इकाई के रूप में स्थित है। दूसरी ओर परिवार व्यवस्था की दूसरी इकाई होते हुए भी उनका प्राकृतिक स्वरूप माना जाता है। अतः व्यवस्था की संवैधानिक इकाई के रूप में पहली इकाई ग्राम को ही माना जाता है। बीच की इकाईयां जिला और राष्ट्र प्रान्त व्यवस्था के औचित्य के आधार पर तय की गई है जिन्हे परिवार और राष्ट्र आपस में मिलकर कम या अधिक कर सकते है।

अंग्रेज शासकों ने बहुत सोच–समझकर ग्राम व्यवस्था को समाप्त किया। इसके परिणाम स्वरूप आम नागरिकों में गुलामी की मानसिकता तैयार हुई। ग्राम गणराज्य के स्वाभिमान को समाप्त करके गुलामी की तरह पिछलग्गू बनाने का उनका सबसे कारगर यह उपाय था जिसमें अंग्रेज सफल रहे। स्वतंत्रता के बाद पुनः ग्राम गणराज्य की गौरवशाली परंपरा को स्थापित होना चाहिए था किन्तु सत्ता की भूख ने ऐसा नहीं होने दिया और भारत में स्वतंत्रता के पश्चात भी सत्ता केन्द्रित व्यवस्था चलती रही। भारत ने अंग्रेजो की नकल करते हुए स्वराज्य व्यवस्था को न अपनाकर प्रजातंत्र को अपनाया। यह प्रजातंत्र तानाशाही और स्वराज्य के बीच का मार्ग था। स्वराज्य में इकाईयां अपनी इकाईगत व्यवस्था स्वयं करती है और अपनी सीमा से ऊपरकी व्यवस्था ऊपर की इकाई को सौंप देती है जबकि अन्य प्रकार के तंत्रो में ऊपर की इकाई संपूर्ण व्यवस्था स्वयं करती है तथा नीचे की इकाईयां से समय समय पर व्यवस्था में सहायता लेती है। तानाशाही और प्रजातंत्र में सिर्फ इतना ही फर्क है कि तानाशाही में सर्वोच्च इकाई का चयन व्यक्तियों या परिवारों द्वारा न होकर शक्ति या परंपरा से होता है जबकि प्रजातंत्र में सर्वोच्च इकाई का चयन आम लोग करते है। इस तरह प्रजातंत्र तानाशाही का एक बहुत ही सुधरा हुआ स्वरूप तो है किन्तु वह स्वराज्य से कोसो दूर है।

ग्राम गणराज्य की व्यवस्था समाप्त होने के अनेक दुष्परिणाम हुए। अंग्रेजो के समय आम लोगों की मानसिकता दासता की थी। साथ ही उसे आम लोगों की कोई सहमति की आवश्यकता भी नहीं थी किन्तु स्वतंत्रता के बाद आम लोगों की गुलाम मानसिकता में कमी आई और आम लोगों की सहमति प्राप्त करना भी शासन के लिए आवश्यक हो गया। अतः शासन की सत्ता बनाए रखने के लिये अनेक रास्ते अपनाने पडे जो प्रत्यक्ष रूप से सत्ता के दलालो को आकर्षित कर सके। परिणाम हुआ कि व्यवस्था टूटने लगी। आज भारत में भ्रष्टाचार और आंतकवाद अपने चरम पर है। जनता से वसूले गये टैक्स का नब्बे प्रतिशत शासन तक भ्रष्टाचार पर खर्च हो रहा है। राजनेता, अधिकारी, पूँजीपति, पत्रकार और अपराधी पंच–प्यारे बनकर समाज का शोषण करने में लगे है। गांव की योजना दिल्ली में बनती है। गांव का टैक्स दिल्ली जाता है और दिल्ली से लुट पिटकर गांव में पहुँचता है। चारो और व्यवस्था के लिये अव्यवस्था का माहौल है। मेरे विचार में आज भारत में व्याप्त सम्पूर्ण अव्यवस्था का मूल कारण ग्राम गणराज्य की व्यवस्था का समाप्त होना ही है अतः हमें ग्राम की व्यवस्था को एक सशक्त और प्रभुता सम्पन्न इकाई के रूप में स्वीकार करना ही होगा जो व्यक्ति और परिवार की संप्रभुता में तो हस्तक्षेप नहीं करेंगी किन्तु अपने इकाईगत निर्णय के लिए पूरी तरह स्वतंत्र होगी। इसके लिए

मैंने नई व्यवस्था का प्रारूप बनाते समय निम्न संशोधन किये हैः–

1. परिवार के बीच सुविधा के लिए ग्राम सभा होगी। एक ग्राम सभा की कुल आबादी न्यूनतम 500 तथा अधिकतम 1500 के बीच होगी। प्रत्येक परिवार का मुखिया ग्राम सभा का सदस्य होगा। ग्राम सभा अपने अधिकार और कर्तब्य स्वयं तय करेंगी। ग्राम सभा का निर्णय न्यूनतम 90 प्रतिशत के बहुमत से होगा। ग्राम सभा में मतदान के समय प्रत्येक सदस्य के उतने मत गिने जायेगे जितनी उनके परिवार की सदस्य संख्या होगी। ग्राम सभा का चुनाव या विघटन कभी नहीं होगा।
2. प्रत्येक ग्राम सभा अपने बीच से सात लोगों का चुनाव करके एक ग्राम पंचायत बनायेगी। ग्राम पंचायत के अधिकार और कर्तव्य ग्राम सभा तय करेंगी।
3. एक सौ ग्राम पंचायतें मिलकर एक जिला सभा बनायेगी। जिला सभा अपने बीच से दस लोगों का चयन करके जिला पंचायत बनायेगी जिसकी कार्यप्रणाली जिला सभा तय करेंगी।
4. एक सौ जिला पंचायते मिलकर एक प्रातीय सभा बनाएंगी। जिला पंचायत के सभी सदस्य प्रान्त सभा के सदस्य होगे। प्रान्त सभा अपने बीच से बीस लोगों का चयन करके प्रान्तीय पंचायत का गठन करेंगी। प्रान्त सभा अपनी और प्रान्त पंचायत की कार्य प्रणाली अधिकार आदि तय करेंगी।
5. एक सौ प्रान्त पंचायतें मिलकर एक संघ सभा बनाएंगी। प्रान्त पंचायत के सभी सदस्य संघ सभा के सदस्य होगे। संघ सभा अपने बीच से पचास लोगों का चयन करके एक संघ पंचायत बनायेगी संघ सभा अपनी और संघ पंचायत की कार्य प्रणाली तय करेंगी।

इस तरह पूरे देश में एक सौ प्रान्त, दस हजार जिले और दस लाख गांव होगे। एक गांव की अनुमानित आबादी एक हजार होगी जो भौगोलिक स्थिति से कम ज्यादा हो सकती है। श्शहर और वार्ड न होकर जिला और गांव ही होगे। वार्ड का नाम बदलकर गांव हो जाएगा। प्रत्येक परिवार का एक नौ अंको का कोड नम्बर होगा जो उस परिवार की पहचान होगा। यही नम्बर उसका फोन नम्बर, गाड़ी नम्बर पोस्ट आफिस का नम्बर या बैंक का नम्बर होगा। न्यायालय से समन या केस भी इसी नम्बर पर होगा। इस कोड नम्बर के पहले दो अंक प्रान्त के बाद के दो अंक जिले के, तीसरे दो अंक गांव के तथा अंतिम तीन अंक परिवार की पहचान निश्चित करेंगे। इस संशोधन की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक सभा अपना अधिकार तय करेंगी। उक्त सभा अपने अधिकार तय करने में पूर्ण स्वतंत्र होगी किन्तु उसके सदस्यो के अधिकार नीचे वाली सभा निश्चित करेंगी। इस तरह किसी सभा के अधिकार नीचे की सभा के टकराव पैदा नहीं करेंगे। कोई सरकार या संविधान परिवार से लेकर राष्ट्रसभा (संघ सभा) तक के कार्य या अधिकार या कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप नहीं कर सकेगे। प्रत्येक सभा स्वयं में एक स्वतंत्र और सम्प्रभुता सम्पन्न इकाई के रूप में कार्य करेंगी। जिसकी अंतिम सीमा यही होगी कि वह किसी अन्य इकाई की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न करें। इस प्रकार गांव से राष्ट्र तक की स्वराज्य व्यवस्था स्थापित हो सकेगी।

6. प्रस्तावित संविधान में यह विलक्षण व्यवस्था भी है कि प्रत्येक सभा या पंचायत की कार्यवाही या संचालन में प्रत्येक सदस्य की भागीदारी समान होगी। अर्थात किसी सभा या पंचायत का कोई अध्यक्ष नहीं होगा। सभा की अध्यक्षता केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त कोई अधिकारी करेंगे। ऐसा अधिकारी सिर्फ नाम मात्र का अध्यक्ष होगा। उसे न तो मतदान का अधिकार होगा न ही निर्णय को प्रभावित करने का। ऐसा अध्यक्ष सरकार और सभा के बीच समन्वय स्थापित करेंगे।
   यह संशोधन स्वराज्य प्रणाली और प्रशासन के बीच टकराव टालने के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।
7. प्रस्तावित संविधान में यह भी प्रावधान है कि कोई भी सभा या पंचायत कोई कर नहीं लगा सकेगी। आपसी सहमति से शुल्क या आय का कोई माध्यम आरंभ हो सकेगा।

यह प्रावधान इस लिए भी महत्वपूर्ण है कि इससे किसी पंचायत के इस अधिकार पर अंकुश लग जाएगा कि वह बिना अपने सदस्यो को सहमत किये कोई कर लगा दे। यदि उसे धन की आवश्यकता है तो देने वालो की भी सहमति अनिवार्य होगी और यदि कोई कर सबकी सहमति से लगता हे तो वह चंदा, दान फीस या अन्य कुछ भी कहा जा सकेगा, किन्तु कर नहीं। एक प्रश्नबार बार उठता है कि किसी भी सभा या पंचायत का खर्च बिना कर के कैसे चलेगा? मेरे विचार में यह प्रश्न उचित नहीं है, क्योंकि जब अपनी कार्यप्रणाली सभा स्वयं तय करेंगी तो अपने व्यय का आकलन भी स्वयं करेंगी और अपने व्यय के अनुसार आय के श्रोत भी स्वयं खोजेगी। जिसे खर्च करना है उसे ही धन इकटठा करना है। इस तरह कर की स्थिति पैदा ही कहा होगी? आज तक दुनियां में कोई कर ऐसा नहीं है जिसमें लेने वाला और देने वाला एक ही हो। किसी ग्रुप के लोग यदि अपने खर्च के लिए अपने सदस्यो की सहमति से धन प्राप्त करते है तो उसे कर नहीं कहा जाता।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न 1– वर्तमान समय में भारत का कोई भी नागरिक देश के किसी भी भाग में जाकर बसने और व्यापार करने के लिये स्वतंत्र है। प्रस्तावित व्यवस्था में इस स्वतंत्रता का क्या स्वरूप होगा। क्या उसे ग्राम सभा की स्वीकृति की आवश्यकता होगी?

उत्तर– वर्तमान समय में सम्पूर्ण भारत एकमात्र इकाई के रूप में है और भारत सरकार उस इकाई की व्यवस्थापक। किन्तु नई व्यवस्था में परिवार एवं ग्राम स्वतंत्र इकाइयां होगी। अतः भारत सरकार न तो किसी व्यक्ति को कही बसने और व्यापार करने से रोक सकती है न अनुमति ही दे सकती है। भारत सरकार की भूमिका इस संबंध में शून्य होगी। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य गांव में व्यापार करना चाहता है तो उसे ग्राम वासियो की सहमति प्राप्त करनी आवश्यक होगी क्योंकि ग्रामवासियों की सहमति बिना उसका रहना, व्यापार करना या अन्य क्रियाकलाप संभव ही नहीं होगा। ग्राम सभा किसी व्यक्ति या परिवार को अपने गांव में तो आने और बसने से इस तरह रोक सकती है कि बिना उनकी सहमति के वह न तो जमीन पा सकेगा, न ही पानी की सुविधा। सारे प्राकृतिक संसाधन गांव के है। अतः गांव के साथ सामंजस्य अनिवार्य है। आप पूछ सकते हैं कि यदि गांव के लोगों को किसी के बसने पर आपत्ति न हो और ग्राम सभा को हो, तब क्या होगा ? प्रश्न इसलिए उठ रहा हे कि आप ग्राम सभा को ग्राम पंचायत समझ रहे है। ग्राम पंचायत को कोई अधिकार नहीं है बल्कि ग्राम सभा को है और ग्राम सभा उस गांव के प्रत्येक परिवार को मिलाकर बनती है। फिर ग्राम सभा सहमत है कि किसी जिले या देश भर में ऐसी छूट होनी चाहिए तो वे तय कर सकती है। इस प्रावधान से सिर्फ सरकार की भूमिका शून्य हुई है अन्य की नहीं।

प्रश्न 2– यदि ग्राम सभा का कोई निर्णय सर्वसम्मति से न हो तब क्या होगा?

उत्तर– इसके लिये ग्राम सभा अपनी कार्य प्रणाली स्वयं तय करेंगी। फिर भी प्रारंभिक व्यवस्था में यह प्रतिशत 90 का रखा गया है। ग्राम सभा चाहे तो 90 प्रतिशत शासन के बहुमत से इस प्रतिशत को घटा बढ़ा सकती है।

प्रश्न 3– ग्राम सभा और जिला सभा अपने अपने अधिकार स्वयं निश्चित करेंगी। यह कैसे सभंव है कि दो भिन्न–भिन्न इकाइयॉ अपने अपने अधिकारों की सीमा स्वयं तय करें ?

उत्तर – इसमें क्या दिक्कत है। प्रत्येक बड़ी इकाई नीचे वाली इकाई के लोगों को ही मिलाकर बनती है तथा उसके पास उतने ही अधिकार होते है जो नीचे वाली इकाई उन्हें देती है। परिवार के किसी सदस्य को कितना भी धन खर्च करने की स्वतत्रंता हो किन्तु उसके पास धन उतना ही आ सकता है जितना कि उसके परिवार वाले उसे दें। इसमें टकराव कहॉ है? उस व्यक्ति की स्वतंत्रता की अधिकतम सीमा वही होगी, जो नीचे वाली इकाइयां उसे सौपती है इससे अधिक नहीं। उस सीमा में उसे निर्णय करने की पूरी स्वतंत्रता है। यदि ग्राम पंचायते जिला सभा को कोई अधिकार नहीं देती है तो जिला सभा का अस्तित्व ही कागजो तक रह जाएगा।

प्रश्न 4– सड़क, पानी, नदी, आदि पर ग्राम सभा का अधिकार होगा या संघ सभा का ?

उत्तर– ग्राम सभा बैठकर तय करेंगी तय करेंगी कि क्या क्या उसे अपने पास रखना है और क्या क्या जिला सभा को देना है। इसी तरह ऊपर बढ़ते–बढ़ते अधिकार और दायित्व संघ सभा तक पहुंच सकेगे।

प्रश्न 5– नये संविधान के लागू होते ही अफरा–तफरी मच जाएगी ?

उत्तर – इस बात पर भी बहुत विचार हुआ। संविधान के लागू होते ही रेल, डाक, सडक, स्कूल, स्वास्थ्य आदि सभी विभाग अलग–अलग निगमो के रूप में काम करना शूरू कर देगें जिन पर संघ सभा का नियत्रण होगा। किसी ग्राम सभा ने तय किया कि उसका स्कूल वह स्वयं चलाएगी, तो संघ सभा उसे छोड़ देगी। कोई प्रांतीय सभा मांग करे कि अपने प्रान्त के डाक घर की व्यवस्था संघ सभा उसे दे दे, तो संघ सभा उसे इस तरह सौप देगी कि उससे किसी अन्य प्रांत की स्वतंत्रता में बाधा न हो। अफरा तफरी हो भी सकती है, जिसका हल खोजना कठिन नहीं। फिर भी यदि स्वतंत्रता संभव नहीं है तो अन्य विकल्पों पर भी में सोचने को तैयार हूँ। आप सुझाव दें।

प्रश्न 6– ग्राम सभा से राष्ट सभा तक की बैठकों की अध्यक्षता कोई शासकीय अधिकारी करेंगे, यह बिल्कुल अनुचित है ?

उत्तर– वर्तमान समय में अध्यक्ष शब्द का अर्थ एक शक्तिशाली इकाई के रूप में लिया जाता है। किन्तु अध्यक्ष को अधिकार विहीन कर दिया जाय तो आपत्ति क्यों उठनी चाहिए? समान स्थिति के लोगों में से कोई अध्यक्ष हो, इससे अच्छा है कि कोई अध्यक्ष न हो और सब लोग समान रहें। ग्राम सभा की बैठक में एक शासकीय प्रतिनिधि भी रहना चाहिए जो शासन और सभा के बीच संवाद रखेगा। ग्राम सभा और शासन के बीच टकराव के दो ही कारण है–

1. वर्तमान व्यवस्था जिसमें शासन और उसके प्रतिनिधियों का हस्तक्षेप, अधिकार और मनोबल बहुत अधिक उॅचा है और ग्राम सभा का नीचा है।

   आपके अनुसार इसमें ग्राम सभा का अधिकार हस्तक्षेप और मनोबल बहुत ऊँचा होगा और शासन या उसके प्रतिनिधि का नीचा।

   मेरे विचार में दोनों स्थितियां घातक है। दूसरी स्थिति बहुत आकर्षक है और लुभावनी है किन्तु दूसरीस्थिति से उत्पन्न अव्यवस्था पहली स्थिति के बनने में सहायक है। अतः क्यों न पहली स्थिति से बचने के लिये हम दूसरी स्थिति से समझौता कर लें। कोई अधिकारी अपने को अध्यक्ष समझ कर बैठक में रहे किन्तु उसका कोई अधिकार न हो तो क्या नुकसान है? यदि शब्दों से ब्यूरो क्रेसी का मनोबल तोडना मात्र अपका उदेदश्य हो तो पृथक बात है अन्यथा मैंन हीं समझता कि उससे कोई अन्तर आ जाएगां अपने बीच में चुने गये अध्यक्ष की भूमिका शक्तिहीन शासकीय कर्मचारी की भूमिका से अधिक विवादास्पद और हानिकर होगी।

प्रश्न 7– यदि किसी गांव के लोग अपनी गांव की प्रगति के लिए धन एकत्रित करने में समर्थ न हो तब वहा की व्यवस्था कैसे होगी?

उत्तर – भारत के प्रत्येक नागरिक को एक निश्चित राशि केन्द्र सरकार देगी ही। यह राशि वर्तमान आकलन के अनुसार दो हजार रूपया प्रतिव्यक्ति प्रति वर्ष होगी। इससे अधिक के लिए वह व्यक्ति अपनी व्यवस्था स्वयं करेंगें और कोई नहीं कर सकेगा। तो वह व्यक्ति या परिवार शासकीय अधिकार में अपनी संपूर्ण संपति निहित करके उस पर अपना भरण पोषण आश्रित कर लगगा। कोई गांव किसीअन्य गांव की आय पर अपना दावा नहीं कर सकता बल्कि सभी गांव अपनी–अपनी व्यवस्था अपने ही साधनो से करने को मजबूर होंगे। अपनी–अपनी व्यवस्था स्वयं देखने की स्थिति से कमजोर लोग तबाह हो जायेगे यह तर्क उन परजीवियों के द्वारा बार–बार उठाया जाता है जो श्रमजीवियों के श्रम का शोषण करके स्वयं को जीवित रखना चाहते है। भारतीय संस्कृति स्वयं में इतनी प्राणवान है कि वह किसी अन्य को भूखा रहने ही नहीं देगी। फिर शासकीय परिवार की भी व्यवस्था संविधान में रखी ही गई है।

बाधाएं है

1– सबसे पहली बाधा वे लोग है जो रामराज्य और स्वराज्य के बीच का भेद ही नहीं समझ पा रहे। ये लोग नाम तो ग्राम स्वराज्य का लेते है किन्तु इनकी कल्पना रामराज्य की है। ये लोग स्वराज्य ग्राम की जगह पर आदर्श ग्राम बनाना चाहते है। सच्चाई यह है कि यदि ग्राम स्वराज्य हो तो रामराज्य अपने आप होगा किन्तु यदि रामराज्य होगा तो स्वराज्य की गारंटी नहीं होगी। ग्राम स्वराज्य की कल्पना का साकार करने में लगे अधिकांश लोग शराब बंदी, स्वदेंशी स्वावलंबन, खादी, शिक्षा आदि न जाने कितनी उपदेशोंत्मक शर्ते ग्राम स्वराज्य के साथ व्यर्थ में जोड़कर ग्राम

स्वराज्य का अर्थ उसी तरह विकृत कर देते है, जिस प्रकार वर्तमान भारतीय संविधान में धाराओ में मूल अर्थो में किन्तु परन्तु लगाकर किया गया है। मेरे विचार में ग्राम स्वराज्य की बिल्कुल साफ और दो टूक परिभाषा विनोबा जी ने दी है– ग्राम सभा को किसी भी सीमा तक गलती करने तक की स्वतंत्रता। इस परिभाषा में कही स्वावलंबन, शराबबंदी, गोहत्या बंदी, विदेशी वस्त्र बंदी जैसी शर्ते नहीं है। हमें सबसे पहले स्पष्ट करना है कि हम पहले स्वराज्य चाहते है कि सुराज्य अर्थात हम प्रत्येक इकाई को निर्णय की स्वतंत्रता देना चाहते है या गांवो को अपनी सर्वोदयी सोच का उपदेश। ये दोनों बाते एक साथ चल ही नहीं सकेगी।

2. दूसरी बाधा उन सबकी है जो बिल्लियों के बीच बन्दर की भूमिका में रहकर सदा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। इन्हें स्वराज्य के विषय में न कुछ सोचना है, न ही कुछ करना है। इन्हें तो सिर्फ प्रश्न खडे करके इस मुददे को लटकाए रखना है। इस संबंध में हमें गांधी जी के आधार पर दो टूक शब्दों में कहना होगा कि पहले तुम तो हटो, तुम्हारे बाद हमारा क्या होगा यह हम सोचेंगे। ऐसी स्पष्ट घोषणा ही ऐसे परजीवियों के प्रश्नों का उत्तर होगी क्योंकि न समझने में ही जिसका स्वार्थ है उसे हम कभी नहीं समझा सकेंगे।

3. तीसरी बाधा वे है जो पंचायती राज्य को ही स्वराज्य मानकर संतुष्ट है। पंचायती राज्य व्यवस्था की बढ़ती आवाज को दबाकर अपना षडयंत्र जारी रखने का एक प्रयास मात्र है। ऐसे ही लोगों ने आन्ध्र और हरियाणा सरकार द्वारा शराब बंदी स्वीकार कराकर अपनी सफलता के बड़े बडे दावे दिये थे। हमें पूर्ण स्वराज्य से कम कही समझौता नहीं करना है। यह अलग बात है कि सरकार जितना दे उसे हम लेते चले जावे। हम सरकार के प्रयासो के विरोधी नहीं है किन्तु अपने लक्ष्य को भ्रमित होने देना भी उचित नहीं है।

4. चौथी बाधा वे है जो ग्राम स्वराज्य के लिए संविधान में संशोधन की आवश्यकता ही नहीं समझते। सच्चाई यह है कि संविधान का निर्माण राम राज्य या सुराज्य की इच्छा से प्रेरित होकर सम्पन्न हुआ था। स्वराज्य का वर्तमान संविधान से कोई लेना देना नहीं है। इस संविधान में संशोधन के बिना कोई स्वराज्य आ ही नहीं सकता यह मेरा स्पष्ट मत है।

अंत में मैं कहना चाहता हूँ कि ग्राम स्वराज्य ही रामराज्य या सुराज्य का आधार है और हमें इस दिशा में पूरा प्रयास करना चाहिए।

(5) अपराध और नियंत्रण

जबसे यह सृष्टि बनी है तभी से अपराध भी पैदा हुए। प्रारम्भ से ही मानव प्रवृति तीन प्रकार की रही हैः–

1. सामाजिक अर्थात समाज सहयोगी
2. असामाजिक अर्थात आत्म केन्द्रित
3. समाज विरोधी अर्थात अपराधी

अब तक के करोड़ों वर्ष के इतिहास में कभी ऐसे काल की कल्पना नहीं की जा सकती जब इन तीन वर्गों का अस्तित्व न रहा हो अर्थात अपराध और अपराधी प्रकृति में शाश्वत है। न तो कभी अपराधी समाप्त हुए और न ही कभी अपराध नियंत्रक। यह अलग बात है कि समय समय पर इनकी संख्या और शक्ति कम या अधिक होती है।

अपराध शब्द की चार प्रकार की परिभाषाए अब तक प्रचलित हैं–

1. व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन अपराध है। मेरे विचार में मूल अधिकार चार ही है– 1 जीने का 2 अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का 3 संपति का 4 स्व–निर्णय का

2. प्रत्येक इकाई के इकाईगत निर्णय की स्वतंत्रता में बाधा ही अपराध है। व्यक्ति और समाज मूल इकाइयां होने से अपराधों का स्वरूप स्थिर तथा अन्य व्यवस्था की इकाइयॉ होने से अपराधों का स्वरूप अस्थिर होता है।

3. सरकार के कानूनों का उल्लंघन ही अपराध है चाहे वे कानून समाज के नियमों के अनुकूल हो या प्रतिकूल। ये कानून अस्थिर होते है अतः अपराधों का स्वरूप भी बदलता रहता है।

4. स्वयं प्रचलित दीर्घकालिन नियम पालन से प्रतिबद्ध व्यक्तियों के समूह को समाज कहते है तथा समाज के नियमों के विरूद्ध आचरण ही अपराध है। ये नियम लगभग स्थिर होते है।

क्रमांक दो छोड़कर शेष तीन परिभाषाए समाज में व्यापक रूप से प्रचलित है ये तीनो एक–दूसरे से संबद्ध भी है और पृथक भी। प्राचीन समय में चारों परिभाषाए एक साथ जुड़ी थी। समाज ने व्यक्ति के मूल अधिकारों का उल्लंघन ही अपराध माना था। अतः समाज द्वारा उतने ही कार्यों को नियम के रूप में स्वीकार किया गया था। सरकार कभी भी समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी बल्कि सरकार समाज के नियमों के कार्यान्वयन तक सीमित थी।इस तरह सरकार कोई मूल भूत नियम नहीं बना सकती थी बल्कि उसके कानून समाज द्वारा स्वीकृत नियमों के आधार पर ही थे। अतः सरकार के कानूनों का उल्लंघन ही अपराध था। चौथी बात यह भी थी कि सरकार या समाज किसी इकाई के इकाईगत निर्णय के अधिकारों में कोई कटौती नहीं कर सकते थे। व्यक्ति परिवार गांव तथा राष्ट अपने अपने निर्णय करने के लिये स्वतंत्र थे। सरकार का एक सूत्रीय कार्य था सुरक्षा। सरकार समाज विरोधी तत्वां पर नियंत्रण का कार्य करती थी। सरकार कभी असामाजिक लोगों पर न तो नियंत्रण का कार्य करती थी न ही इस संबंध में कोई कानून ही बनाती थी।सरकार सुरक्षा और न्याय को छोड़कर जनहित के कोई कार्य अपने हाथ मैं नहीं लेती थी।

धीरे–धीरे समय बदला और राज्य समाज पर मजबूत होने लगा। सुरक्षा के साथ–साथ जन कल्याण के कार्यों में राजकीय हस्तक्षेप शुरू हुआ। राज्य ने समाज का प्रतिनिधित्व करना शुरू किया। धीरे–धीरे आज यह स्थिति बनी कि समाज का स्वरूप ही नहीं रहा राज्य ने ही समाज का स्थान ग्रहण कर लिया। समाज का स्वरूप ही नहीं रहा राज्य ने ही समाज का स्थान ग्रहण कर लिया। समाज की पहले की परिभाषा स्वयं विकसित दीर्घकालिक नियम पालन से प्रतिबद्ध व्यक्तियों का समूह बदलकर समाज धर्म जाति राष्ट्र, संस्कृति के साथ जुड गया। विडम्बना ही है कि समाज की सम्पूर्ण परिभाषा और मान्यता ही बदल गई तथा समाज विरोधी लोग भी समाज के अंग माने जाने लगे। धीरे–धीरे मूल अधिकारों की परिभाषा भी बदल गयी जो सरकार के दायित्व घोषित किये जाने के साथ हो गयी। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि को भी मूल अधिकार में शामिल करने की आवाजे उठने लगी। समाज का अर्थ सरकार हो जाने से तथा सरकार का जनकल्याणकारी स्वरूप स्थापित होने से सरकार को व्यक्ति, परिवार, गांव, जिला आदि इकाइयों के इकाइगत जीवन में हस्तक्षेप के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गये। इस प्रकार अपराध शब्द की सिर्फ एक ही परिभाषा बची रही कि सरकार के कानूनों का उल्लंघन ही अपराध है। समाज की व्यवस्था छिन्न–भिन्न होने से चौथी परिभाषा कमजोर हो गई। मूल अधिकार की परिभाषा बदलने से पहली परिभाषा समाप्त हो गई तथा सरकार द्वारा अपने आस पास सम्पूर्ण अधिकार केन्द्रित कर लेने से दूसरी परिभाषा भी समाप्त हो गई। यदि हम वर्तमान स्थिति का आकलन करे तो आज पहली और चौथी परिभाषा के अनुसार भारत में कुल आबादी का दो प्रतिशत ही अपराधी हैशेष में से 97 प्रतिशत के करीब असामाजिक तथा एक दो प्रतिशत सामाजिक लोग है। यदि हम तीसरी परिभाषा के आधार पर आकलन करें तो पूरे भारत में 99 प्रतिशत लोग अपराधी और 1/2 प्रतिशत लोग ही शायद सामजिक हो। यदि हम दूसरी परिभाषा के आधार पर आकलन करे तो पूरे भारत में सबसे बड़ी अपराधी तो सरकार है जो व्यक्ति से लेकर प्रान्तीय इकाई तक के इकाईगत जीवन में असीमित हस्तक्षेप करती है। 2 प्रतिशत अपराधियों का क्रम सरकार के बाद आता है। इस तरह भारत में अपराध नियंत्रण में सबसे बड़ी बाधा अपराध की परिभाषा का

बदल जाना ही है। अपराध की वर्तमान परिभाषा तभी उचित हो सकती थी जब सरकरा समाज का दर्पण होती और सरकार के अन्दर समाज का प्रतिबिम्ब दिखता। यह तो विपरीत होता चला गया अर्थात सरकार मुख्य हो गई और समाज दर्पण। समाज में सरकार का प्रतिबिम्ब दिखने लगा है।

मेरे विचार में अपराध की सरकारी परिभाषा क्रमांक तीन बिल्कुल गलत है। तथा समाज की परिभाषा क्रमांक चारभी समाज का कोई ढ़ॉचो न होने से अनुपयुक्त है। दो परिभाषाएं उचित हो सकती है– मूल भूत अधिकारों का उल्लंघन क्रमांक एक तथा दूसरी इकाई के इकाइगत निर्णय में बाधा क्रमांक दो वाली। वैसे ये दोनों परिभाषाएँ एक–दूसरे से जुड़ी हुई है। इन दोनों में से पहली परिभाषा स्वीकार करे तो मूलभूल अधिकारों की वर्तमान परिभाषा को बदलना होगा तथा दूसरी पहर भाषा स्वीकार करे तो संविधान संशोधन द्वारा इकाईयां को स्वतंत्रता देनी होगी। फिर भी यदि दूसरी परिभाषा को मान्य कर लिया जाय तो पहली का स्वयं ही उसमें समावेश हो जायेगा। इस तरह वर्तमान समय में अपराध शब्द की इस तरह की परिभाषा होनी चाहिये–'' किसी भी इकाई के मूल अधिकारों का उल्लंघन''। इस परिभाषा के अनुसार अपराध पांच प्रकार के होंगे–

1. चोरी, डकैती, लूट
2. बलात्कार
3. आंतक, गुण्डागर्दी, दादागिरी, किसी इकाई के स्वः निर्णय में हस्तक्षेप
4. धोखा, जालसाजी, मिलावट, कमतोलना
5. भ्रष्टाचार

इन पांच के अतिरिक्त कोई भी कार्य अपराध नहीं है। भले ही वे कार्य सामाजिक दृष्टि से अनैतिक हो या शासकीय दृष्टि से गैर कानूनी। हम वर्तमान समय में उन्हें अनैतिक और गैर कानूनी तो कह सकते है किन्तु अपराध नहीं। वर्तमान स्थिति का हम आकलन करे तो पिछले पचास वषांमें भारत में इन सभी अपराधों में भारी वृद्धि हुई। इनमें से एक भी अपराध ऐसा नहीं जिसमें लेश मात्र भी कमी हुई हो। हमने चाहे अन्य सभी दिशाओं में कितनी भी प्रगति कर ली हो किन्तु अपराधों के आधार पर तो यह सर्वमान्य है कि हम बहुत पीछे चले गये है, लगातार पीछे जा रहे है, तथा भविष्य में भी इस क्रम में बदलाव की कोइ आशा नहीं। सरकारां के बदलने, मोरारजी, अटल जी, विश्वनाथ प्रताप सिंह जी सरीखे योग्य और ईमानदार व्यक्तियों को सत्ता सौंपने, एक परिवार का शासन हटाने य मजबूत सरकार की जगह कमजोर सरकार का प्रयोग भी अपराध नियंत्रण में विफल रहा भारत के इतिहास में पहली बार विश्वनाथ प्रताप जी ने उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनते समय डकैती उन्मूलन को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाया था। कुछ ही महिनो में श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह पराजित हुए। उन्हें अपने भाई की जान तथा मुंख्यमंत्री पद दोनों ही छोड़ना पड़ा। जब श्री सिह प्रधान मंत्री बने तो उन्होने वही घिसा–पिटा गरीबी उन्मूलन जातीय पिछडापन दूर करने अशिक्षा दूर करने जैसे ऐसे काम हाथ में लिये जिनमें कोई खतरा न हो। अटल बिहारी बाजपेयी जैसा योग्य प्रधान मंत्री भी अपराधों के विरूद्ध जेहाद छेड़ने से डरता है। हमने देखा है कि डाप्सी बिमारी का फैलाव मिलावट से हुआ किन्तु मिलावट के विरूद्ध कदम न उठाकर सरसों के विरूद्ध कदम उठाना पड़ा क्योंकि मिलावट एक अपराध है और अपराधी के विरूद्ध एक भी कदम किसी भी सरकार या व्यक्ति के लिये खतरनाक हो सकता है।

जो व्यवस्था लालू, मूलायम, मायावती, जयललिता, के सहारे ही चल रही हो जिसकी सवोच्च इकाई रूपी संसद में अनेक नामी अपराधी सम्मानपूर्वक बैठते हो, जिसके अधिकांश निर्णयो में दादागिरी की महत्वपूर्ण भूमिका रहती हो उस व्यवस्था से ऐसे परिणामो के अतिरिक्त कुछ और आशा करना आत्म छलावा मात्र ही है।

मैंने प्रारम्भ में ही लिखा है कि किसी भी सरकार का एक और सिर्फ एक ही दायित्व होता है अपराध नियंत्रण। अर्थात प्रत्येक इकाई को अपने मूल अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी। इनके अतिरिक्त सरकार कोई अन्य काम हाथ में लेती है तो यही माना जायेगा कि उसने अपराध नियंत्रण में सफलता पा ली है और अपने दायित्वो से आगे बढ़कर वह काम कर रही है अथवा वह अपराध नियंत्रण में असफल है और अपने दायित्व से मुंह चुराकर जनकल्याण का ढोंग लोगों को धोखा देने के लिए कर रही है। वर्तमान व्यवस्था और उसके द्वारा स्थापित सरकार अपने दायित्वों में असफलता को ढ़कने के लिये ढ़ोंग कर रही है। बलात्कार पर नियंत्रण में असफल व्यवस्था वेश्यावृति पर रोक लगाने का कानून बनाती है। मिलावट और कम तौलना भले ही आम बात हो गई हो किन्तु मूल्य नियंत्रण का नाटक अवश्य होगा। पूरे देश में आतंक एक महामारी का रूप ग्रहण कर चुका है किन्तु सरकार बाल मजदूरी तथा साक्षरता जैसे कामो में लगी हुई है। मुझे तो ऐसी कुव्यवस्था को व्यवस्था या सरकार कहने में भी शर्म आती है। जब यही सब करना था तो अपने को सरकार कहने की क्या आवश्यकता थी। कोई आश्रम नाम रखने से ही काम चल सकता था। कुल मिलाकर हम यही कह सकते है कि सरकार अपने दायित्वो के अतिरिक्त अन्य सभी कार्यों में सचेष्ट, सक्रिय और सफल है। अतः ऐसी सरकार या ऐसी व्यवस्था से अपराध नियंत्रण की उम्मीद करना व्यर्थ है।

अपराध नियंत्रण का अर्थ है प्रत्येक इकाई के मूल अधिकारों की सुरक्षा और सरकार का अर्थ है ऐसी सुरक्षा की गारंटी। नई व्यवस्था में सरकार का ऐसी गारंटी देना दायित्व होगा। इसके लिये हमें सम्पूर्ण व्यवस्था का ही नया ढ़ांचा खडा करना होगा और इसके लिये भारतीय संविधान में निम्नलिखित व्यापक संशोधन करने होंगे।

1. मूल अधिकारों को परिभाषित करना होगा।
2. व्यक्ति और समाज दो मौलिक इकाइयां है। बीच की इकाइयां, परिवार ग्राम, जिला प्रान्त और राष्ट की संवैधानिक रचना करनी होगी।
3. प्रत्येक इकाई के मूल अधिकार और अधिकतम अधिकारों की सीमा बनानी होगी।

4. सरकार को जनहित के कार्यों से पृथक करके उसे सिर्फ अपराध नियंत्रण तक केन्द्रित करना होगा।

इन सबके बाद ही अपराध नियंत्रण का मार्ग निकल सकेगा। इस ढ़ाचा में हम अपराध नियंत्रण के उदेश्य में एक महत्वपूर्ण संशोधन और करेंगे कि यदि किसी जिले के कलेक्टर, एस. पी. और जिला न्यायाधीश तीनो महसूस करते हो कि उस जिले में अपराधियों के भय से लोग रिपोर्ट करने या साक्ष्य देने में डरते है तो वे उक्त जिले में आंतरिक आपातकाल धोषित कर सकते है। ऐसे आपातकाल धोषित जिले में धोषित अल्पकाल तक गुप्त मुकदमा–प्रणाली शुरू की जायेगी। इसके अन्तर्गत पुलिस की गुप्तचर सेवा जिला न्यायाधीश के समक्ष गुप्त मुकदमा प्रस्तुत करेंगी जिसकी जांच जिला की गुप्तचर न्यायिक सेवा द्वारा गुप्त रूप से की जायेगी। यदि अपराध प्रमाणित होगा तो जिला न्यायालय सजा की सिफारिश करेंगे। तदनुसार उक्त व्यक्ति की गिरफ्तारी के बाद उच्च न्यायालय की गुप्तचर सेवा जांच करके सजा पर अपना निर्णय देगी। इस तरह अपराध नियंत्रण बहुत आसान हो जायेगा तथा सरकार के टाडा मीसा या अन्य तानाशाही अधिकार भी समाप्त हो जायेंगे। बिना न्यायालय के आदेश के कोई भी व्यक्ति किसी गुप्त मुकदमें गिरफ्तार नहीं किया जा सकेगा।

मेरा तो यहाँ तक प्रस्ताव है कि यदि किसी इकाई में मूल अधिकारों की सुरक्षा में शासन असफल रहता है तो शासन उस व्यक्ति परिवार या गांव को उतना मुआवजा देने हेतु बाध्य होगा जितना न्यायालय निश्चित करे। यदि हम इस प्रकार के संशोधन संविधान में कर दे तो समाज से अपराधों की वृद्धि पर ही नहीं बल्कि वर्तमान स्थिति को भी काफी हद तक नियंत्रण में किया जा सकता है।

अपराध नियंत्रण के इस लक्ष्य को प्राप्त करने में अनेक बाधाएं भी है।

1. वे लोग जो सुराज्य के पक्षधर है, स्वराज्य के नहीं, ऐसे लोगों की महत्ताकांक्षा के कारण ही नित नये कानून बनते हैं। ऐसे अनावश्यक कानूनों की अधिकता एक ओर तो उसी मात्रा में भ्रष्टाचार के अवसर पैदा करती है दूसरी और सरकार पर इतना अनावश्यक दायित्व डाल देती है कि सरकार की अपराध नियंत्रण की शक्ति क्षीण हो जाती है।

2. वे लोग जो अनैतिक और अपराध का अन्तर नहीं समझते। ऐसे लोग सब काम सरकार से ही कराना चाहते हैं। ये लोग शराब, जुआ, वेश्यावृत्ति, पर्यावरण सुरक्षा आदि कार्यों में प्रतिदिन शासकीय हस्तक्षेप की मांग करते हैं। ये लोग समाज को कभी किसी काम में सक्रिय होने ही नहीं देते। समाज के हर काम के लिये सरकार से मांग करना इनकी आदत है।

1. वे लोग जो अपराध नियंत्रण में शासकीय हस्तक्षेप के विरूद्ध है। ये लोग अपराध नियंत्रण के लिये हृदय परिवर्तन को ही मात्र आधार मानते है जबकि सच्चाई यह है कि हृदय परिवर्तन अपराध नियंत्रण का पहला आधार है, अन्तिम नहीं। सर्वोदय से जुड़े लोग विशेष रूप से ऐसा विचार रखते है। किन्तु में अब तक नहीं समझ सका कि ये लोग चोरी, डकैती, हत्या, आतंक आदि–आदि के लिये तो हृदय परिवर्तन को आवश्यक मानते है किन्तु अश्लील, साहित्य, शराब, गांजा, छूआछूत, बालश्रम, आदि को कानून से रोकना चाहते हैं। मेरे विचार में बिल्कुल उल्टी सोच है।
2. वे लोग जो व्यक्ति सुधार को एक मार्ग समझते हैं। वे भूल जाते हैं कि जब तक व्यवस्था ठीक रहती है तभी शराफत का लाभ समाज को मिलता है। अन्यथा शराफत धूर्तो का भोजन होती है। धूर्तता या अपराध नियंत्रण के लिये शराफत पर अंकुश लगाकर समझदार बनना होगा। जिस समय भारत स्वतंत्र हुआ उस समय अधिकांश अच्छे लोगों ने व्यवस्था संभाली। उनकी शराफत पर किसी को संदेह नहीं। किन्तु परिणाम विपरीत इसलिये हुए कि धूर्तो को अव्यवस्था के काल में शराफत प्रधान लोगों की ही आवश्यकता है। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आज राजनैतिक दलो या धार्मिक सामाजिक संस्थाओं के मठाधीश बन बनकर धूर्त लोग लगातार समाज में शराफत, नैतिकता और व्यक्ति चरित्र सुधार का संदेश दे रहे है, तथा शरीफ लोग, ऐसे लोगों के चंगुल में फंस फंसकर उनकी सहायता कर रहे हैं। मैं इस विषय में दृढ़ मत का हूँ कि शराफत को मजबूत करने के लिये वर्तमान व्यवस्था का ऐसा स्वरूप बनना होगा जो धूर्तो और अपराधियों को व्यवस्था का लाभ न लेन दे।
3. वे लोग जो ग्राम स्वराज्य का अर्थ ग्राम सरकार समझते हैं। ऐसे लोग गांव को व्यवस्था की एकमात्र इकाई कहते हैं। न उससे ऊपर कोई सरकार होगी न नीचे इनसे जब यह प्रश्न होता है कि गांव का बहुमत यदि अल्पमत पर अत्याचार करने लगे तो उसे कैसे रोकेंगे? अथवा यदि कोई परिवार गांव के निर्णय को गलत समझता है तो कहाँ अपील करें? ऐसे प्रश्नों का बिना किसी तर्क कुछ भी उत्तर देकर टाल देते हैं। ये लोग न तो परिवार को इकाई मानते हैं न ही व्यक्ति को जबकि विनोबा जी के अनुसार गांव के किसी भी निर्णय में प्रत्येक परिवार की सहमति आवश्यक है। अर्थात विनोबा जी ने व्यक्ति और परिवार के व्यक्तिगत और पारिवारिक मामलो में गांव को बिना उनकी सहमति के हस्तक्षेप से रोका है। मेरे विचार में सुरक्षा की गारंटी उच्चतम इकाई ही दे सकती है। सच तो यह है कि सुरक्षा की गारंटी हेतु

एक विश्व सरकार बननी चाहिये थी किन्तु जब तक विश्व सरकार नहीं बनती तब तक राष्ट्रीय सरकार को ही यह दायित्व संभालना चाहिये।

कुछ स्वाभाविक प्रश्न

प्रश्न 1– यदि न्याय और सुरक्षा का दायित्व गांव को ही सौप दे तो क्या हर्ज है।

उत्तर– गांव को अपने गांव की सुरक्षा और न्याय का अधिकार है कि दायित्व नहीं। यदि कोई गांव अपने गांव के लोगों को संतुष्ट और सहमत करे तो राष्ट्रीय सरकार को क्या दिक्कत है? किन्तु यदि कोई गांव सुरक्षा और न्याय नहीं दे पाता तो ऐसे किसी परिवार या व्यक्ति की शिकायत समाज अर्थात सरकार तो सुनेगी ही। प्रत्येक इकाई को इकाइगत स्वतंत्रता की गारंटी सरकार देगी। अर्थात गांव एक बीच की इकाई है न नीचे से ऊपर, न ऊपर से नीचे। अतः गांव को अन्तिम इकाई मानना अव्यावहारिक है।

प्रश्न–2 यदि शराफत का प्रचार किया जाये और सब लोग शरीफ हो जाय तो हर्ज क्या है?

उत्तर– सिर्फ एक दिन के लिये पुलिस और कोर्ट को निष्क्रिय करके अपने शराफत के बल पर अपराध रोकने की कल्पना मात्र भी हास्यास्पद तर्क है। अतः शराफत के बल पर अपराध नियंत्रण इक्का दुक्का ही संभव है।

प्रश्न 3– तो क्या गांधी जी का अंहिंसा का सिद्धान्त गलत था?

उत्तर– गांधी जी ने अंहिसा को प्रतिरोधों का माध्यम बनाया था न कि अपराधियों को छूट देने की वकालत की थी। गांधी जी तो अन्तिम दम तक अपने अधिकारों के लिये अहिंसक संघर्ष हेतु प्रेरित करते रहे। पता नहीं आप किस तरह गांधी जी का नाम लेकर कह रहे है कि हम सिर्फ अपने सुधरने तक स्वयं को सीमित कर लें। 'हम सुधरेंगे जग सुधरेगा' का मंत्र ठीक व्यवस्था हो तब तो उपयुक्त अन्यथा कायरता का प्रतीक और समस्याओं की जड़ है।

प्रश्न 4– प्रत्येक इकाई अपनी सुरक्षा स्वयं करे तो इसमें आपत्ति क्या है?

उत्तर– कोई भी इकाई अपनी सुरक्षा स्वयं करें यह ठीक है किन्तु टकराव की अनुमति नहीं दी जा सकती है। वर्तमान समय में किसी विश्व व्यवस्था के अभाव में राष्ट्रों को यह अधिकार प्राप्त है। उसका परिणाम है युद्ध। इस राष्ट्रीय अधिकार पर विश्व व्यवस्था का अंकुश आवश्यक है। यदि ऐसी व्यवस्था रही होती तो शायद राष्ट्रो को इतनी शक्ति अपनी सुरक्षा पर नहीं लगती। अतः किन्हीं भी इकाइयों को अपनी सुरक्षा की चिन्ता स्वयं करने की स्थिति अव्यवस्था पैदा करेंगी। अतः सर्वोच्च व्यवस्था का यह दायित्व है कि प्रत्येक इकाई को सुरक्षा की गारंटी दे।

प्रश्न 5– आपने अपराध नियंत्रण के लिये गुप्त मुकदमा प्रणाली का सुक्षाव दिया। यह तो पूरी तरह अप्रजातांत्रिक प्रक्रिया होगी। जिस व्यक्ति को सजा मिल रही है उसे अपनी सफाई का अवसर न मिले यह उचित नहीं। इस प्रक्रिया से भ्रष्टाचार और तानाशाही भी बढ़ सकती है। कलेक्टर, एस. पी. और डी. जे. को ऐसे असीमित अधिकार देना उचित नहीं?

उत्तर– अपराध नियंत्रण हमारा लक्ष्य है और प्रजातंत्र उसका मार्ग। प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा देना समाज का दायित्व है। इस दायित्व की पूर्ति प्रजातांत्रिक तरीके से ही होनी उचित है। किन्तु यदि किन्हीं परिस्थितियों में प्रजातंत्र ही अपराधियों का कवच बन जाये तो प्रजातंत्र रूपी ऐसे कवच को भेद कर भी अपराध नियंत्रण का दायित्व तो पूरा करना ही होगा। आज पूरे देश में अपराधी तत्वां का बोलबाला है। आतंक, बलात्कार मिलावट, जालसाजी, भ्रष्टाचार आदि अनियंत्रित हो गये है। यदि सरकार या समाज आम नागरिकों की इन मुट्ठी भी अपराधियों से सुरक्षा करने में समर्थ नहीं है तो इसे प्रजातंत्र की सफलता कहना कितना न्यायसंगत होगा? प्रजातंत्र का तो अर्थ है आम नागरिकों को अधिकतम न्याय। अतः प्रजातंत्र की सुरक्षा के लिये अपराधियों के प्रजातांत्रिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये हम अधिक भावुक हो जाते है किन्तु आम नागरिकों के वैसे ही अधिकारों पर हम विचार नहीं करते है। आज भारत के किसी अपराधी को गैर कानूनी तरीके से पुलिस गोली मार दे तो आम लोग प्रसन्न होते है। हम प्रायः पुलिस से अपेक्षा करते है कि वह जुर्म की खोजबीन के क्रम में संदेही की पिटाई करे। किसी अपराधी को थाने या पुलिस की अपेक्षा स्वयं पीटना भीड़ को अधिक उचित दिखने लगा है। आम लोगों के मन में ऐसे गैर कानूनी कार्यों के प्रति आर्कषक इसलिये है कि उनका पुलिस और न्यायालय द्वारा अपराधियों की सजा पर से विश्वास उठ गया है। किसी संभावित अराजकता को ढ़ालने के लिये अपराध नियंत्रण करना ही होगा और यदि अनिवार्य होगा। तो प्रजातंत्र का दूरूपयोग करने वालों पर भी नियंत्रण के उपाय करने होंगे। गुप्त मुकदमा प्रणाली अपराध नियंत्रण का एक अचूक नुस्खा है जो प्रजातंत्र की भी सुरक्षा करेंगे भले ही उसके कारण अपराधियों का प्रजातंत्र का कवच टूट ही क्यों न जाय। गुप्त मुकदमा प्रणाली में नयायालय की ही भूमिका महत्वपूर्ण है। एस. पी. कलेक्टर और जिलाधीश तो सिर्फ परिस्थितियों के आकलन तक सीमित है। बाद में इनकी नगण्य है। सम्पूर्ण भूमिका गुप्तचर पुलिस और गुप्तचर पुलिस की है। अतः आपकी चिन्ता बेबुनियाद है। संभव है कि देश के किसी बडे नेता या कलेक्टर को ही इस प्रणाली में सजा हो जाय और उसे पता न चले। व्यक्ति को बिना न्यायालय से अपराध सिद्ध हुए गिरफतारी नहीं होगी। और सजा की पुष्टि उच्च

न्यायालय करेंगे। इतनी सतकर्ता रखी गई है। आप सोचिये कि मीसा, टाडा आन्तरिक सुरक्षा कानूनों की अपेक्षा यह कितना अधिक प्रजातांत्रिक है? यदि गुप्त मुकदमा प्रणाली के बाद सरकार और पुलिस के विशेष कानून हट जाते हैं तो खुशी होनी चाहिये। फिर भी आप ठीक नहीं समझते तो कृपया लिखिये कि अपराध नियंत्रण के लिये और क्या मार्ग उचित है? अब आपकी सलाह तो निरर्थक है कि चाहे अपराध भले ही बढ़े किन्तु गुप्त मुकदमा प्रणाली अप्रजातांत्रिक है। यदि आप इस प्रणाली को ठीक नहीं समझते तो एक जिम्मेदार विचारक के नाते अपने संशोधन और सुझाव भेजे जो गुप्त मुकदमा प्रणाली से अधिक उपयुक्त कारगर और प्रजातांत्रिक सिद्ध हो।

(6) न्याय प्रणाली और उसका प्रस्तावित स्वरूप

किसी भी व्यवस्था में न्याय की अनिवार्य आवश्यकता होती है। बिना न्याय के कोई व्यवस्था चल ही नहीं सकती। प्राचीन काल में न्याय की प्रणाली पर कई प्रयोग हुए। किसी काल में राजा ही न्याय का एक मात्र माध्यम था तो किसी अन्य काल में पंच मिलकर न्याय किया करते थे। कभी–कभी गांव के लोग भी बैठकर न्याय किया करते थे और कभी राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी ही न्याय करता था। इस तरह न्याय की भिन्न–भिन्न प्रणालियॉ समाज में प्रचलित थीं। राजा द्वारा किया जाने वाला न्याय आंशिक न्याय ही होता था। दो व्यक्तियों के बीच विवाद होने की स्थिति में तो राजा का न्याय बहुत त्रुटिपूर्ण नहीं होता था किन्तु राज्य के कानूनों के मामले में राजा का न्याय प्रायः हितों के अनुरूप ही होता था। पंच द्वारा प्रतिपादित न्याय आम तौर पर न्याय का रूप न होकर समझौते का रूप होता था। वर्तमान न्याय प्रणाली न राजा द्वारा की जाने वाली प्रणाली है न ही पंचों द्वारा बल्कि यह प्रणाली बीच की है जिसमें राज्य द्वारा किसी निर्मित प्रणाली के आधार पर न्याय व्यवस्था संचालित होती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत राज्य द्वारा नियुक्त व्यक्ति दोनों पक्षों के बीच दोनों के सहमत होने तक समीक्षा करते हुए न्याय करते हैं। और सहमत पक्ष को ऐसे ही किसी अन्य व्यक्ति से भी समीक्षा कराने का अधिकार है।

वर्तमान न्याय प्रणाली के अनेक गुण–दोष हैं। यह प्रणाली पंच न्याय प्रणाली से अधिक खर्चीली, बिलम्ब करने वाली तथा अविश्वसनीय है। वर्तमान स्थिति यह है कि न्यायालयों में करोड़ों मुकदमें न्याय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। अनेक मुकदमें तो पचीस से पचास वर्ष तक से लम्बित हैं। न्याय यदि समय सीमा में उपलब्ध न हो तो उसकी गुणवता घटती जाती है। यदि इसे कसौटी माना जाय तो वर्तमान न्याय प्रक्रिया शून्य गुणवाली मानी जायेगी। किन्तु जब व्यक्ति में चरित्र का संकट हो तो ऐसी स्थिति में संदेहास्पद चरित्र वालों पर तो न्याय का दायित्व बिल्कुल नहीं दिया जा सकता। चरित्र का संकट तो वर्तमान न्यायाधीशों पर भी उसी तरह लागू होता है। जैसे पंचों पर किन्तु वर्तमान न्याय प्रणाली में अपील द्वारा समीक्षा का प्रावधान होना तथा न्याय का तरीका किसी वैधानिक प्रक्रिया के अन्तर्गत बधा हुआ होना, दो ऐसे गुण हैं, जिनका अभाव पंचायत प्रणाली में स्पष्ट है। अतः न्याय प्रणाली के कोई भी प्रयोग अब तक सफल नहीं हुए हैं।

न्याय में सबसे बड़ी बाधा राज्य होता है। किन्हीं दो इकाईयां के बीच विवाद की स्थिति में उचित अनुचित का निर्णय ही न्याय होता है। राज्य भी स्वयं में एक इकाई है। अतः न्यायिक प्रक्रिया में राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिये। आम तौर पर सिद्धांत रूप से प्रजातान्त्रिक देश इतनी औपचारिकता निभाते भी हैं किन्तु प्रायः यह देखने में आता है कि राज्य अपने मामलों में न्याय को प्रभावित करने का प्रयास करता ही है। अनेक प्रकार के मामलों को न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखने का एक फैशन–सा शुरू हो गया है। न्यायालयों का बोझ कम करने के नाम पर राज्य द्वारा स्वयं की न्यायायिक प्रक्रिया पूरी करने की प्रवृत्ति घातक रूप ग्रहण कर रही है। इससे न्याय की आत्मा ही मर रही है। न्याय प्रणाली में राज्य के हस्तक्षेप का ही परिणाम है कि आज समाज में न्यायालयों का भय समाप्त हो रहा है और राज्य का आतंक बढ़ रहा है। बलात्कार और खून की अपेक्षा वन अपराध, आवश्यक वस्तु अधिनियम, दहेज उत्पीड़न तथा आदिवासी उत्पीड़न जैसे मामले समाज में आतंक के पर्याय बने हुये है। मैंने एक विद्वान को यह भी सलाह देते सुना है कि यदि 3/7 और 307 में से एक को चुनना हो तो 307 को चुनना अधिक सुविधा जनक है। इसी तरह राज्य की यह हार्दिक इच्छा होती है कि आम आदमी उसका गुलाम हो। गुलाम मानसिकता को स्थापित करने के लिये राज्य समाज की प्रत्येक इकाई को अधिक से अधिक कानूनों के जाल में जकड़ने का प्रयास करता है। इन कानूनों की संख्या जितनी अधिक होगी, इनके उल्लंघन भी उतने ही अधिक होंगे और उसी अनुपात में न्यायालय का काम भी बढ़ेगा। न्यायालय पर बोझ जितना अधिक होगा उतना ही अधिक न्याय कमजोर होता चला जायेगा। वर्तमान भारत की यही स्थिति है। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में अपराधों में सजा का प्रतिशत सिर्फ एक है। 90 प्रतिशत तक अपराध तो थाने तक पहुंचते ही नहीं। 10 प्रतिशत में कुछ पुलिस, कुछ गवाह और कुछ न्यायाधीशों द्वारा भ्रष्टाचार की मिलावट कर देने से खत्म हो जाते हैं। 1 प्रतिशत लोग ही सजा पाते हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से 99 प्रतिशत अन्याय ही है।

सफल न्यायिक प्रणाली में चार गुण अनिवार्य हैं–

1. समयबद्ध हो।
2. निष्पक्ष हो।
3. पारदर्शी हो
4. व्यवस्था और न्याय एक–दूसरे के पूरक हो।

वर्तमान न्याय प्रणाली सिर्फ पारदर्शिता तक सीमित है। वह न तो समयबद्ध है न ही निष्पक्ष और न ही व्यवस्था की पूरक। मैंने न्याय प्रणाली की मैंनं ने इन कारणों पर विचार करके प्रस्तावित संविधान में कुछ संशोधन किये हैंः–

दुनियां में दो प्रकार के न्याय सिद्धांत चल रहे हैं– 1. न्याय प्रधान 2. व्यवस्था प्रधान। पश्चिम के देशों ने यह सिद्धांत बनाया है कि चाहे सौ अपराधी छूट जाये पर एक भी निरपराध दण्डित न होने पाये। पश्चिम के देशों ने निरपराध का दण्डित होना व्यवस्था के लिये कलंक माना है। साम्यवादी देशों ने ठीक इसके विपरीत धारणा रखी कि चाहे सौ निरपराध भले ही सजा पा जाये किन्तु एक भी अपराधी न बच पाये। उनकी इस धारणा में भी तर्क है कि किसी अपराधी का छूटना भी तो अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय ही है। पश्चिम के देशों की सोच मौलिक थी जो साम्यवादी विचारों पर केन्द्रित

थी। भारत की न तो अपनी कोई सोच थी न ही किसी एक व्यवस्था के गुण–दोषों पर विचार करके निर्णय लेने की परिस्थितियां। अतः भारत ने प्रजातांत्रिक और साम्यवादी देशों की नकल के आधार पर एक तीसरी प्रणाली खड़ी कर दी। दुर्भाग्य से दोनों देशों की न्यायप्रणालियों की विकृतियॉ विकसित भारतीय संविधान का अंग बन गई। पूंजीवादी देश समाजवाद का ढ़ोंग नहीं करते अतः वहाँ राज्य का हस्तक्षेप समाज की इकाईगत कार्य प्रणाली में कम रहा फलस्वरूप कानून कम बने और न्यायालयों पर बोझ नहीं बढ़ा। न्यायालयों के निर्णय समय बद्ध होते रहे। दूसरी ओर साम्यवादी देशों को भी प्रजातंत्र का ढ़ोंग नहीं करना था अतः वहाँ कानून कठोर बने और कानूनी प्रक्रिया छोटी होने से न्याय तत्काल होता रहा भारत को प्रजातांत्रिक समाजवाद का ढ़ोंग करना था और वह भी किसी चिन्तन के आधार पर न करके दोनों की नकल से खड़ा करना था। अतः भारत ने समाजवादी देशों की नकल करके तो सामाजिक जीवन में अधिकाधिक हस्तक्षेप के कानून बना दिये और पूंजीवादी देशों की नकल करके जटिल न्यायिक प्रक्रिया निर्धारित कर दी। परिणाम स्वरूप न्याय में भी विलम्ब हुआ और न्यायालयों पर काम का बोझ भी बढ़ता चला गया। न्याय प्रणाली की विफलता ने व्यवस्था को कमजोर कर दिया।

समाज की स्थिति यहाँ तक खराब हो चुकी है कि–

1. आम लोग स्वयं ही दण्डित करने लगे हैं भले ही उसके लिये कानून ही हाथ में क्यों न लेना पड़े। पूरे देश में कानून पर आम लोगों का विश्वास घटा है।

2. पुलिस अनेक मामलों में स्वयं ही दण्ड देने लगी है भले ही वह गैर कानूनी ही क्यों न हो। पूरे देश में मुठभेड़ों का सिलसिला या पुलिस अभिरक्षा में मौतों की बढ़ती घटनाएं प्रत्यक्ष हैं।

3. सरकार न्यायिक प्रक्रिया को किनारे करके कठोर कानून बनाने की दिशा में चलने लगी है। आंतरिक सुरक्षा अधिनियम सरीखे अनेक प्रतिबंधात्मक कानून इसका उदाहरण है।

1.मैंने भी प्रजातंत्र और समाजवाद के बीच का मार्ग चुना है किन्तु इसमें इन दोनों प्रणालियों की बुराईयों से बचने का प्रयास किया गया है। मेरा पहला प्रस्ताव यह है कि राज्य का हस्तक्षेप और दायित्व न्यूनतम स्तर तक कम हो जाये। इससे कानून की कुल संख्या में 95 प्रतिशत तक की कमी हो जायेगी। कानूनों की संख्या कम होने से न्यायालय का बोझ कम होगा तथा उसकी गुणवत्ता बढ़ेगी। दूसरा प्रस्ताव यह है कि कलेक्टर, पुलिस अधीक्षक और जिला न्यायाधीश यदि महसूस करें कि उनके क्षेत्र में भय और आतंक के कारण न्याय में बाधा है तो वे अपने जिले में आपातकाल घोषित कर सकते हैं। आपातकाल घोषित जिले में पुलिस और न्यायालय की संपूर्ण कार्यवाही गुप्तचर पुलिस और गुप्तचर न्यायालय के पास होगी। इस प्रणाली से एक ओर व्यवस्था मजबूत होगी, दूसरी ओर राज्य को मुठभेड़ या आंतरिक सुरक्षा कानून जैसे कदमों का सहारा नहीं लेना पड़ेगा। आम लोगों में भी न्याय और व्यवस्था के प्रति विश्वास पैदा होगा।

2. पूरे भारत में यह एक गलत धारणा फैली हुई है कि न्याय सस्ता सर्वसुलभ होना चाहिए। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में मुकदमा लड़ने वालों में कुल संख्या 1 प्रतिशत से भी कम है। इनमें से तीन चौथाई लोग ऐसे है जिनके एक से अधिक मुकदमें न्यायालयों में लंबित है। आज सस्ता न्याय के नाम पर न्यायालय का खर्च राज्य उठाता है जिसके लिये उसे रोटी, कपड़ा, दवा आदि उपभोक्ता वस्तुओं तक पर टैक्स लगाना पड़ता है। में आज तक नहीं समझ सका कि इन 1 प्रतिशत मुकदमा लड़ने वालों को सस्ता न्याय दिलाने के लिये वे 99 प्रतिशत लोग टैक्स क्यों दें जो न्यायलय से कोई मतलब नहीं रखते? सस्ता न्याय का परिणाम ही है कि आम मुकदमें बाज लोगों से आम नागरिक इसलिये डरता है कि कहीं वह कोर्ट में खड़ाकर दे। सस्ता न्याय का नारा एक ऐसा षडयंत्र है कि पिछले साठ वर्षों में भले ही मुद्रा का मूल्य एक पैसे से भी कम रह गया हो, भले ही देश के अन्य सभी आधारों का मुद्रा के आधार पर पुर्नमूल्यांकन हुआ हो किन्तु दण्ड प्रक्रिया संहिता की अधिकांश धाराओं में अर्थ दण्ड 1940 में पच्चीस रूपये था तो आज भी वहीं पच्चीस रूपये है जबकि उसे बढ़कर 2000 दो हजार रूपये होना चाहिये था। मैंने यह संशोधन किया है कि न्यायालय का कोई भी व्यय भार राज्य वहन नहीं करेंगे और न्यायालय अपने खर्च की व्यवस्था अपनी दण्ड व्यवस्था के ही आधार पर करेंगे।

3. प्राचीन काल की पंचायत प्रणाली सस्ती, पारदर्शी, त्वरित और विश्वसनीय थी। वर्तमान पंचायत प्रणाली को न्याय का दायित्व सौंपने से तो अनेक समस्याएं खड़ी हो सकती है क्योंकि वर्तमान समय में चरित्र का संकट है किन्तु पंचायत प्रणाली को न्याय में शामिल रखना भी उपयोगी होगा। इस हेतु मैंने प्रस्ताव किया है कि जो परिवार अपने विवाद ग्राम सभा में निपटाने हेतु सहमत नहीं होंगे वही परिवार न्यायलय में जायेंगे। चूँकि परिवारों का सबसे अधिक संबंध ग्राम सभा या जिला सभा से ही होगा इसलिए आम तौर पर लोग ग्राम सभा को छोड़कर न्यायालयों में जाना कम पसंद करेंगे। इस तरह न्याय की दुहरी प्रणाली होगी और दोनों पक्षों पर निर्भर होगा कि वे किस प्रणाली का चयन करते हैं।

4. विधायिका की यह मजबूरी है कि वह चुनाव में मतदाता का विश्वास जीतने के लिये कठोर कानूनों से दूर रहे। भारत में Law According to Justice; न्याय के अनुरूप विधान विधायिका का दायित्व है। विधायिका ने ऐसे अनेक कानून बनाये हैं जो न्याय में बाधा उत्पन्न करते हैं। छोटी–मोटी मारपीट को धारा 323 में डालकर पुलिस हस्तक्षेप से दूर रखा गया जबकि आपसी सहमति से जुआ खेलना पुलिस हस्तक्षेप योग्य अपराध है। अवैध शस्त्र और अवैध अनाज रखने वालों में अवैध अनाज रखने को अधिक गम्भीर अपराध बनाया गया। न्याय प्रक्रिया में विधायिका के

हस्तक्षेप को देखते हुए ही मैंने यह प्रस्ताव किया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता में संशोधन विधायिका उच्चतम न्यायलय के मुख्य न्यायधीश के परामर्श से ही करेंगी। इससे न्यायिक प्रक्रिया में राष्ट्रपति, मंत्रिमण्डल और न्यायालय तीनों संबद्ध होंगे।

कुछ संभावित प्रश्न

प्रश्न 1. पंचायती न्याय और कानूनी न्याय में अन्तर क्या होगा?

उत्तर– पंचायती न्याय में न्याय करने वाले पंचों का विवेक प्रमुख होता है और प्रणाली गौण। कानूनी न्याय में प्रक्रिया प्रमुख होती है और विवेक गौण। यदि किसी मामले में जज स्वयं सच्चाई को जानता हो तब भी उसे गवाहों और सबूतों के आधार पर निर्णय करना पड़ता है जबकि पंचायत में ऐसी मजबूरी नहीं। इसलिये पंचायत दोनों पक्षों की सहमति से ही कोई निर्णय करेंगी किन्तु न्यायालय में कोई एक पक्ष भी जा सकता है।

प्रश्न 2– पंचायत की न्याय प्रणाली क्या होगी?

उत्तर– पंचायत की न्याय प्रणाली पंचायत तय करेंगी। इस संबंध में सरकार के कोई कानून पंचायत की कार्य प्रणाली या सीमाएं तय नहीं कर सकेंगे। पंचायत में निपटारा किसी इकाई का इकाईगत मामला है जिसमें कोई अन्य इकाई हस्तक्षेप नहीं करेंगी।

प्रश्न 3. न्याय निष्पक्ष हो इसका क्या उपाय हो सकता है?

उत्तर– आज भारत के आम नागरिक के चरित्र में गिरावट आई है। न्यायाधीश भी इसी समाज से आता है अतः उसमें भी चरित्र का अभाव स्वाभाविक है। समाज में चरित्र का स्तर ऊँचा होना ही न्याय की निष्पक्षता का आधार होगा। फिर भी गुप्त मुकदमा प्रणाली से देश के प्रधान मंत्री से लेकर प्रधान न्यायाधीश तक भयभीत रहेंगे। कलेक्टर, एस. पी. सिर्फ आपातकाल की परिस्थितियां ही घोषित कर सकते हैं। इसके बाद के तो उनके सब हस्तक्षेप शून्य होंगे और सब अधिकार गुप्तचर पुलिस और गुप्तचर न्यायिक सेवा के पास होंगे। संभव है कि किसी प्रधान मंत्री को ही सम्मानित करने के नाम पर थाने में बुलाकर उन्हें गुप्त न्यायिक सेवा द्वारा घोषित सजा सुनाकर, जेल के सुपुर्द कर दिया जाय।

प्रश्न 4. आपके इस तरह के प्रयास से तो कोई भी राजनेता कभी भी जेल भेजा जा सकता है। इससे क्या राजनैतिक प्रतिशोध संभव नहीं है?

उत्तर – इस सम्पूर्ण प्रणाली में राजनेताओं या सरकार की कोई भूमिका या जानकारी तक का प्रावधान नहीं है। किस पुलिस ने क्या शिकायत की और किस न्यायिक गुप्तचर ने जांच की, यह किसी को पता नहीं चलेगा। आप हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में अपील कर सकते हैं जिसकी पृथक गुप्तचर सेवा पुनः पूरे प्रकरण की जांच कर सकती है।

प्रश्न 5. क्या यह तानाशाही नहीं?

उत्तर– आम नागरिकों की कुशल व्यवस्था के लिये स्वराज्य की स्थापना आवश्यकता है और स्वराज्य की सुरक्षा के लिए अपराधियों के मन में कानून का डर भी अनिवार्य है। यदि स्वराज्य के लिये कुछ तानाशाही कानून भी बनाना पड़े तो बनाये जा सकते हैं। मुख्य बात तो यह है कि यह प्रावधान इतना अल्पकालिक होगा कि पंजाब, बिहार, कश्मीर, असम आदि में शायद दो–चारमाह के लिये लागू करना पड़े। मुझे तो विश्वास है कि उक्त प्रावधान लागू होते ही आतंक और बड़े बड़े अपराधी अपने आप ठीक हो जायेंगे। क्योंकि अपराध करके बच निकलने वाला प्रजातांत्रिक हथियार ही समाप्त हो जायेगा।

प्रश्न 6. न्याय महंगा करना कितना प्रजातांत्रिक होगा?

उत्तर– मुकदमा लड़ने वालों को सस्ता न्याय दिलाने के लिये मुकदमा न लड़ने वालों पर कर लगाकर धन वसूलना जितना प्रजातांत्रिक होगा उससे अधिक प्रजातांत्रिक यह होगा कि न्याय में होने वाला खर्च दोषी व्यक्ति से दण्डस्वरूप लिये जाये।

प्रश्न 7. आम अपराधी आज अपराध करने से डर नहीं रहा है। ऐसा क्यों?

उत्तर– आम तौर पर एक सिद्धांत काम करता है कि किसी बीमारी के कीटाणुओं पर एक निश्चित मात्रा से कम दवा का उपयोग करने से उक्त कीटाणुओं की सहन शक्ति में वृद्धि हो जाती है। उसी प्रकार अपराध नियंत्रण के लिये जितने मजबूत कदम उठने चाहिये थे उतने मजबूत कदम न उठने से अपराधियों की अपराध क्षमता बढ़ रही है। स्वतंत्रता के बाद के पचास वर्षों के अपराध और दण्ड का संतुलन इतना बिगड़ गया है कि बलात्कार के लिये अब मृत्यु दण्ड का प्रावधान करने की आवश्यकता महसूस हो रही है या मृत्यु दण्ड का भय भी हत्याओं को रोकने में विफल है। प्रश्न यह नहीं है कि सजा कितनी कठोर है बल्कि मुख्य प्रश्न यह है कि सजा कितने प्रतिशत अपराधियों को मिलती है। यदि भारत में हो रहे अपराध में सजा का प्रतिशत बढ़कर पांच भी स्थिर हो जाये, जो कि बहुत कम है, तो भी अपराधों में काफी कुछ रोक थाम संभव है।

प्रमुख बाधाएं

1. विधायिका, जो स्वयं अपराधियों के संरक्षण पर निर्भर है वह अपराध नियंत्रण के ठोस उपाय लागू नहीं होने देती। अनावश्यक या मामूली अपराधों को गम्भीर घोषित करके गम्भीर अपराधों को मामूली की श्रेणी में रखवाने में ये लोग पूरी तरह कुशल व सफल हैं। अनेक समाज शास्त्री को स्वराज्य समाज के स्थान पर आदर्श समाज की कल्पना को साकार करने में दिन रात लगे हैं, ये लोग हर कार्य के गुण–दोष स्वयं तब करके वैसा ही सरकार से कानून बनवाने की जिद करते रहते हैं। मेरा यह विश्वास है कि यदि न्यायिक प्रक्रिया को आदर्श बनाने की जिद को छोड़कर व्यावहारिक बनाने की पहल की जाये, तो समाज स्वयं में आदर्श हो सकता है।

(7) कर की प्रणाली और आर्थिक असमानता

समाज में जब से राज्य व्यवस्था प्रारम्भ हुई तभी से कर प्रणाली का भी प्रादुर्भाव हुआ। राज्य का दायित्व था कि वह प्रत्येक इकाई को अपने इकाईगत निर्णय की स्वतंत्रता की सुरक्षा की गारंटी दे। उक्त गारंटी की व्यवस्था के लिए राज्य को जिस धन की आवश्यकता होती थी वह नागरिकों से लेने के तरीके को ही कर ; टैक्स कहा जाता है।

यदि किसी सुविधा के लाभ लेने वाले व्यक्ति उक्त सुविधा के बदले में कुछ निश्चित मूल्य देते हैं तो उसे हम फीस कहते हैं किन्तु यदि वह धन किसी सुविधा विशेष के लिए न हो तथा सब पर आरोपित हो चाहे वह लाभ ले या नहीं तो उसे कर कहा जाता है।

राज्य प्रत्येक नागरिक के जीवन, अभिव्यक्ति और स्व–निर्णय की स्वतंत्रता की सुरक्षा करता है अतः उसे प्रत्येक नागरिक से कर लेने का अधिकार है। साथ ही राज्य प्रत्येक नागरिक की संपत्ति की सुरक्षा की व्यवस्था करता है और संपत्ति समान होती है अतः राज्य के लिए यह उचित है कि वह सबसे समान कर लेने की अपेक्षा संपत्ति के अनुसार कर लेने की व्यवस्था करे। इसी लिए प्राचीन समय में किसी भी व्यक्ति द्वारा भूमि से पैदा की गई उपज का कुछ हिस्सा ही राज्य का एक मात्र कर होता था। कालान्तर में और मुख्य रूप से गुलामी काल से भारत में कल्याणकारी राज्य आदर्श बना। अब राज्य सुरक्षा तक सीमित न रहकर इकाईयां के इकाईगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगा और तब राज्य की बढ़ी हुई आवश्यकताओं के अनुसार कर के ढ़ांचे का भी विस्तार हुआ।

जनकल्याणकारी राज्य की कर प्रणाली के तीन आदर्श होते हैं–

1. प्रत्येक नागरिक से समान रूप से कर लिया जाए और आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग को सुविधाएं दी जायें।
2. आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोगों से कर लिया जाय और सबको समान रूप से सुविधा दी जाय।
3. सम्पन्न लोगों से कर लिया जाय और गरीब लोगों को सुविधाएं दी जायें। पहले और दूसरे तरीके में भ्रष्टाचार और अन्याय के कम अवसर होते हैं, क्योंकि या तो टैक्स लेने में या वितरण करने में गरीब अमीर की पहचान करनी होती है जबकि तीसरे विकल्प में टैक्स लेने और सुविधा देने, दोनों में गरीब अमीर की पहचान आवश्यक होती है। दुर्भाग्य से भारत ने तीसरे विकल्प का चयन किया है जिसके अनुसार संपन्न लोगों से ही कर लिया जाएगा और कमजोर लोगों को ही सुविधाएं दी जायेंगी। दूसरे शब्दों में कहें तो गरीब वर्ग को कर मुक्त रखने और संपन्न वर्ग की सुविधा वंचित रखने की अति उच्च आदर्शवादी प्रक्रिया शुरू की गई है। इस आदर्शवादी सिद्धांत के अनुसार मानव उपयोगी वस्तुओं की एक सूची उपयोगिता की प्राथमिकताओं के क्रम के आधार पर बननी चाहिए थी और उस सूची के अनुसार नीचे की वस्तुओं पर तब तक कर लगाना था कि जब तक कर की आवश्यकता शून्य न हो जाए। दूसरी ओर उक्त सूची में ऊपर तब तक सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए थीं जब तक सुविधाओं की मात्रा शून्य न हो जाये। भारत में भी ऐसी सूची बनी जिससे रोटी पहले क्रम पर, उसके बाद कपड़ा फिर मकान और दवा उसके बाद आवागमन को रखा गया। अन्य अनेक वस्तुओं को और नीचे अंकित किया गया। सिद्धांत के अनुसार रोटी, कपड़ा और मकान दवा को पूर्णतः कर मुक्त होना चाहिए था और इन सब पर सुविधाएं मिलनी चाहिए थीं किन्तु राज्य की नीयत साफ नहीं थी। अतः राज्य ने कर लगाते समय ही चालाकी की और रोटी, कपड़ा, मकान, दवा जैसी प्राथमिकता के क्रम में ऊपर वाली वस्तुओं पर कर लगा दिया और बिजली, मिट्टी तेल पोस्टकार्ड, कागज, अखबार और रसोई गैस जैसी पांचवी छटवीं या दसवीं क्रम की वस्तुओं पर छूट देनी शुरू कर दी। यहाँ तक कि घास, भूसा, ईंटा, कपड़ा, फल और सब्जियॉ भी कर के दायरे में शामिल हो गई। पूर्णतः मानव श्रम पर निर्भर साइकिल भी कर से अलग नहीं बची। हद तो तब हो गई जब शत प्रतिशत श्रम निर्भर उत्पादन बीड़ीपत्ती, सालबीज, पत्तल आदि पर भी भारी कर लगा दिये गये। पर्यावरण के लिए वृक्षारोपण को प्रोत्साहन देने का नाटक करने वाली सरकार ने अपने खेत में अपने श्रम से उत्पादित बांस लकड़ी आदि में से भी कुल उत्पादन का एक चौथाई से एक तिहाई तक कर के रूप में लेने का नियम बना दिया। जब सुविधा देने की बारी आई तो पोस्टकार्ड, समाचारपत्र, कागज, रसोई गैस कैरोसिन, बिजली, आदि पर छूट प्रदान कर दी। एक कहावत के अनुसार एक राजा ने धूर्त अफसर को हुक्म किया कि लोगों को सब्जी बनाने के लिए बराबर बराबर मात्रा में लौकी और किशमिश प्रदान करें और देखे कि कौन स्वादिष्ट सब्जी बनाता है। अफसर ने अपने को किशमिश और लौकी तौल कर बराबर दे दी और विरोधी को गिनकर बराबर दी। शिकायत होने पर उसने कहा कि उसने तो दोनों को बराबर दी है। विपक्षी को एक लौकी और एक किशमिश तथा समर्थक को एक एक किलो। यही हाल कर प्रणाली का भी हुआ। रोटी, कपड़ा, मकान, दवा, साइकिल और पशुचारा पर कर लगाया गया और पोस्टकार्ड, अखबार, कागज, मिट्टी तेल आदि पर छूट दी गई। आम आदमी समझ सकता है कि गरीब आदमी कितना रोटी, कपड़ा, मकान, दवा का उपयोग करता है और कितना पोस्टकार्ड, रसोई गैस, बिजली या समाचार पत्रों का। एक सर्वेक्षण के आंकड़े स्थिति को और स्पष्ट कर सकते हैं–

सम्पूर्ण आबादी को चार भागों में विभाजित किया गया है।

1. निर्धन 5 प्रतिशत

2. सामान्य 45 प्रतिशत
3. सम्पन्न 45 प्रतिशत
4. धनाढ्य 5 प्रतिशत

आय का अनुपात

लोग श्रम प्रधान कृत्रिम ऊर्जा प्रधान
1. निर्धन 05 : 10 : 0 :
2. सामान्य 45 : 65 : 35 :
3. सम्पन्न 45 : 35 : 65 :
4. धनाढ्य 5 : 0 : 100 :

इस तालिका से स्पष्ट है कि क्रम से गरीब व्यक्ति की सम्पूर्ण आय के स्त्रोत श्रम पर निर्भर करते हैं और धनाढ्य के कृत्रिम ऊर्जा पर। इसी तरह व्यय का सर्वेक्षण करें तो बिल्कुल उल्टी स्थिति है।

व्यय का अनुपात
श्रम प्रधान उपभोक्ता कृत्रिम ऊर्जा प्रधान
वस्तु उपभोक्ता वस्तु
1. निर्धन 05 : 100 : 0 :
2. सामान्य 45 : 75 : 25 :
3. सम्पन्न 45 : 25 : 75 :
4. धनाढ्य 05 : 0 : 100 :

स्पष्ट है कि निर्धन व्यक्ति की सम्पूर्ण आय श्रम–निर्भर है और व्यय भी दूसरी ओर धनाढ्य व्यक्ति की इसके ठीक विपरीत सम्पूर्ण आय और व्यय कृत्रिम ऊर्जा निर्भर है। यदि कृत्रिम ऊर्जा का मूल्य ढ़ाई गुना करके रोटी, कपड़ा, मकान, दवा, साईकिल रिक्सा, घास, भूसा ईंटा, कपड़ा लकड़ी, बास आदि हजारों वस्तुओं को टैक्स फ्री कर लिया जाय तो निर्धन की आय बढ़ेगी, व्यय घटेगा। धनाढ्य की आय घटेगी, व्यय बढ़ेगा। भारत की संपूर्ण आर्थिक अव्यवस्था का सिर्फ एक ही कारण है कि भारत में श्रम के स्थान पर कृत्रिम ऊर्जा को महत्व दिया गया। आश्चर्य होता है कि भारत एक श्रम बहुल एवं कृत्रिम ऊर्जा अभाव का देश है। दूसरी और पश्चिम के राष्ट्र श्रम अभाव कृत्रिम ऊर्जा बहुल देश है। कृत्रिम ऊर्जा को सस्ती करना उनका शौक नहीं बल्कि मजबूरी है किन्तु भारत ने या तो उनकी नकल की या बुद्धिजीवियों तथा पूँजीपतियों ने नकल का षड्यंत्र किया और कृत्रिम ऊर्जा को प्रमुख मान लिया। भारत में विदेशों से डीजल, पेट्रोल आता है, विदेशी कर्ज बढ़ाता है, पर्यावरण प्रदूषित करता है, श्रम का शोषण करता है। परन्तु भारतीय नीति निर्धारक इसे प्रगति का मापदण्ड मानकर प्रसन्न हो रहे हैं। यदि किसी कुत्ते को विश्वास करा दिया जाय कि सूखी हड्डी चबाने से एक मीठा मीठा स्वाद आता है तो कुत्ता अपने ही निकले खून के स्वाद से बहुत प्रसन्न होगा। वही स्थिति आज हमारी है। प्रचार तंत्र ने ऐसा दुष्प्रचार किया है कि कृत्रिम ऊर्जा हमें शोषक की अपेक्षा सहायक महसूस हो रही है। स्वराज्य व्यवस्था में समाज मालिक होता है और राज्य की भूमिका एक निगम के रूप में होती है। जिस तरह से रेल निगम रेल का, संचार निगम टेलीफोन का तथा स्वास्थ्य निगम अस्पतालों की व्यवस्था करते हैं, उसी तरह सुरक्षा निगम समाज में सभी प्रकार की सुरक्षा का दायित्व संभालता है, और इसी को हम राज्य कहते हैं। राज्य भी अन्य निगमों के समान ही सुरक्षा फीस लेता है किन्तु इस सुरक्षा फीस को हम फीस न कहकर टैक्स या कर कहते हैं। राज्य व्यक्ति को चार प्रकार के

मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी देता है

1. जीने की
2. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की
3. स्व–निर्णय की
4. संपत्ति की।

इनमें से प्रथम तीन की सुरक्षा पर तो कोई कर लगाना संभव नहीं। सिर्फ संपत्ति की सुरक्षा हेतु ही कर लगाना संभव है। अतः मेरे विचार में राज्य के लिए सर्वाधिक न्यायोचित टैक्स, संपत्ति कर ही हो सकता है। चूंकि संपत्ति की मात्रा प्रत्येक परिवार में असमान होती है अतः संपत्ति की सुरक्षा में राज्य की शक्ति और साधनों का व्यय भी असमान होता है। यदि संपत्ति पर कर लगा दिया जाय तो आम तौर पर उसकी सुरक्षा और उसके कर में समान अनुपात हो सकता है। संपत्ति कर के अतिरिक्त अन्य कोई कर ऐसा नहीं है जो संपत्ति कर के समान न्याय संगत हो। दूसरी यह बात भी है कि संपत्ति कर का संग्रह भी अन्य किसी भी कर की अपेक्षा अधिक सुविधा जनक है। वर्तमान में बिक्री कर, आयकर तथा अन्य अनेक प्रकार के जो कर–प्रावधान हैं वे सब के सब न्यायोचित नहीं हैं और संग्रह प्रक्रिया भी जटिल है।

आय के तीन स्त्रोत माने जाते हैं–

1. श्रम 2. बुद्धि 3. धन संपत्ति। श्रम की उत्पादन क्षमता सीमित और कम होती है। बुद्धि की उत्पादन क्षमता सीमित और अधिक होती है। किन्तु धन की उत्पादन क्षमता असीमित भी होती है और अधिक भी। बुद्धि और धन आपस में इक्टठे हो जाये।तो व्यक्ति अपार संपत्ति के धारक हो जाते हैं। पूंजीवादी देशों में धन और श्रम की उत्पादन क्षमता में बहुत कम अन्तर है। किसी भी पूंजीवादी देश में न्यूनतम श्रम–मूल्य चालीस से पचास किलो अनाज ही है जबकि रूपये की उत्पादन क्षमता उसकी मात्रा का तीन से चार प्रतिशत तक। भारत में श्रम का मूल्य तो सिर्फ चार से आठ किलो अनाज ही है जबकि रूपये की उत्पादन क्षमता करीब 12 से 15 प्र0 श0 तक। इसलिए विदेशों के लोग श्रम का सम्मान करते हैं और दूसरे का श्रम क्रय करने की अपेक्षा स्वयं श्रम करना अच्छा मानते हैं। भारत में इससे ठीक विपरीत अपने श्रम की अपेक्षा दूसरों का श्रम क्रय करना सुविधा और सम्मानजनक मानते हैं। विदेशों में बुद्धि का भी भारत से अधिक सम्मान है। अतः भारत की बुद्धि का पलायन का क्रम निरंतर जारी है। धन की उत्पादन क्षमता और श्रम की उत्पादन क्षमता के बीच का यह अन्तर ही आर्थिक असमानता का कारण है। जब धन बिना श्रम और बुद्धि की सहायता के भी पंद्रह प्रतिशत की तीव्र गति से प्रतिवर्ष बढ़ता है तो श्रम उसके समक्ष कैसे टिक सकता है। पिछले पचास साल के स्वतंत्रता के काल खंड में भी न तो धन की उत्पादन क्षमता में कमी हुई और न ही श्रम की उत्पादन क्षमता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। श्रम का न्यूनतम मूल्य सन सैतालीस में यदि तीन किलो अनाज था तो आज बढ़कर चार किलो प्रति दिन हुआ होगा किन्तु यदि सन सैतालीस में किसी के पास एक सौ रूपया था तो वह आज 15 प्रतिशत वार्षिक के आधार पर ही बढ़कर एक लाख हो गया। यदि मुद्रा–स्फीति को घटा भी दे तो भी वह एक सौ से बढ़कर ढ़ाई हजार तो हो ही गया। आज भारत की एक ही सबसे बड़ी समस्या है आर्थिक असमानता। श्रम प्रधान या गरीब व्यक्ति की प्रगति की कछुए की चाल है और धन संपत्ति वाले की हवाई जहाज की। दोनों के बीच कोई तुलना ही नहीं है। अतः भारत में न्यायपूर्ण अर्थ व्यवस्था की स्थापना के लिए आर्थिक असमानता पर चोट करनी होगी और इस असमानता पर चोट करने के लिए श्रम–मूल्य वृद्धि और धन की उत्पादन क्षमता को कम करना होगा। कृत्रिम ऊर्जा पर भारी कर और सम्पत्ति कर इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होंगे।

भारत की संपूर्ण व्यवस्था पूंजीपतियों के इशारे पर संचालित हो रही है। भारत की प्रमुख समस्या है आर्थिक असमानता किन्तु भारत के आम नागरिक को मंहगाई, बेरोजगारी और मुद्रा–स्फीति जैसे भ्रममूलक या काल्पनिक समस्याओं के भ्रम में डाल दिया गया है। जिस तरह भारत का हर आदमी भूत से परेशान रहता है वैसे ही वह मंहगाई से भी है जबकि न तो भूत का कोई अस्तित्व है न ही मंहगाई का। आज तक कोई विद्वान मंहगाई की परिभाषा ही नहीं कर सका है। मंहगाई का अर्थ मुद्रा–स्फीति है जिसका अर्थ है नगद रूपये का मूल्य हास। नगद रूपये के मूल्य हास का कोई असर गरीबों पर कभी नहीं होता। अतः पता नहीं मुद्रा–स्फीति से गरीब क्यों परेशान है? ऐसा भ्रम भारत के आम नागरिकों में फैलाया गया है। मेरे विचार में मुद्रा–स्फीति का भय फैलाने में पूंजीपतियों, राजनेताओं तथा मीडिया की मिली–जुली साजिश है। कल्पना कीजिए किसी दिन एकाएक नगद रूपये का मूल्य शून्य कर दिया जाए तो में नहीं समझता की धन हीन व्यक्ति को इससे क्या परेशानी होगी। यदि मंहगाई का अर्थ आम नागरिक की क्रय शक्ति से जोड़ा जाए तो भारत के प्रत्येक व्यक्ति की क्रय शक्ति में 10 या 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई है तथा अमीर की क्रय शक्ति में 1000 या 100000 प्रतिशत। यह अंतर मंहगाई नहीं कहा जा सकता बल्कि आर्थिक असमानता कहा जाना चाहिए। यदि मंहगाई का अर्थ वस्तुओं की मूल्य वृद्धि से जोड़ा जाए तो सच्चाई यह है कि मुद्रा–स्फीति को निकालने के बाद भारत में पिछले पचास वर्षों में सोना, चांदी और जमीन के मूल्य बढ़े हैं जबकि अनाज, कपड़ा, मकान के समान के मूल्य घटे हैं। डीजल, बिजली, मिट्टी तेल आदि भी लगातार सस्ते हुए हैं। घड़ी, रेडियो, पेन आदि तो बहुत सस्ते हुए हैं। जब तीन वस्तुओं के मूल्य बढ़े हैं और वे तीनों ही गरीबों के उपयोग की नहीं हैं तो मंहगाई का अर्थ क्या है और असर क्या? यह समझमें नहीं आया। मैंने मंहगाई और मुद्रा–स्फीति पर दस वर्षों तक शोध करके यह निष्कर्ष निकाला है कि राजनेता, अपने सत्ता के खेल में, सरकारी कर्मचारी अधिक से अधिक वेतन वृद्धि के उद्देश्य में तथा पूंजीपति आम लोगों का ध्यान आर्थिक असमानता पर से हटाने के लिए मंहगाई का रोना रोते हैं अन्यथा न तो कोई परिभाषा ही बन सकी है न ही इसका कोई अस्तित्व ही है।

मंहगाई के समान ही बेरोजगारी शब्द भी भ्रामक है। मंहगाई शब्द राजनेताओं और पूंजीपतियों ने आर्थिक असमानता पर से ध्यान हटाने के उद्देश्य से बनाया दूसरी और शिक्षित बेरोजगार शब्द बुद्धिजीवियों ने श्रम को धोखा देने के लिए बनाया। बेरोजगारी की परिभाषा बदल दी गई जिसके दुष्परिणाम हुए कि रोजगार के सारे प्रयत्नों का लाभ भी बुद्धिजीवियों के हाथों केन्द्रित हो गया। भारत की वर्तमान अर्थ नीति ने मंहगाई और

शिक्षित बेरोजगारी का एक काल्पनिक भूत खड़ा करके कर लगाने और सब्सीडी देने के ऐसे–ऐसे तर्क बना लिए जो आर्थिक असमानता में वृद्धि करने में लगातार सहायक हो रहे हैं।

मैंने नई अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए प्रस्तावित संविधान में कुछ मौलिक फेर बदल किये हैं।

1. भारत के प्रत्येक नागरिक की संपूर्ण चल–अचल संपति पर अधिकतम दो प्रतिशत वार्षिक तक का एक मात्र कर।
2. श्रम–मूल्य वृद्धि के उद्देश्य से कृत्रिम ऊर्जा के मूल्य में अपेक्षित वृद्धि।
3. आर्थिक असमानता अधिक होने पर आर्थिक आपातकाल की घोषणा। आपातकाल में संपूर्ण चल अचल संपति पर 2 प्रतिशत आपातकर।
4. शासन का व्यय सिर्फ आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा पर। व्यय करने के बाद शेष बची संपूर्ण राशि का प्रत्येक नागरिक में समान वितरण।
5. सभी प्रकार के टैक्स और सब्सीडी समाप्त।

इस व्यवस्था से आर्थिक असमानता अपने आप कम हो जाएगी क्योंकि संपत्ति पर कर लगेगा और व्यक्ति को छूट मिलेगी। श्रम की मांग और मूल्य बढ़ जायेगा। साथ ही कर की जटिलताएं भी खत्म हो जावेंगी।

प्रश्न 1.– आप 2 प्रतिशत संपत्ति कर लगाकर सरकार के सब खर्च कैसे पूरे करने की योजना रखते हैं?

उत्तर– भारत की संपूर्ण चल अचल संपति पर 2 प्रतिशत कर तो बहुत अधिक धन इकट्ठा करेंगे। मैं तो समझता हूँ कि एक डेढ़ प्रतिशत ही पर्याप्त है। मंदिर और धर्मशाला, स्कूल कालेज, कल कारखाने रेल, सिंचाई बांध, व्यक्तिगत और सार्वजनिक मिल्कियत में अन्य साधन आदि को जोड़कर देखें तो कुल टैक्स बहुत हो जायेगा। एक मोटे अनुमान के अनुसार कुल आय संपति कर से सैंतीस खरब तक, कृत्रिम ऊर्जा पर ढ़ाई गुना मूल्य वृद्धि में दस खरब रूपया टैक्स मिलेगा। कुछ व्यय सेना पर दो अरब पुलिस पर एक खरब, सब्सीडी प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष दो हजार की दर से बीस खरब अन्य व्यय एक खरब तथा व्याज आदि पटाने में खर्च करके भी काफी बच सकता है।

प्रश्न 2.– मन्दिर और धर्मशाला पर टैक्स लगाना कितना उचित है?

उत्तर– आप बताइये कि इसमें क्या गलत है। यदि मंदिर और धर्मशाला का उपयोग कुछ लोग करते हैं और कुछ नहीं। तो उपयोग न करने वाले क्यों टैक्स दें। फिर भी यदि सब लोग चाहते हैं कि वह टैक्स फ्री रहे तो वे चन्दा करके दे दें। आखिर दो ही तो मार्ग है

1. इन पर टैक्स छूट देकर अन्य लोगों पर टैक्स की दर बढ़ाई जाय।
2. सब्सीडी घटाई जाय। मैं समझता हूँ कि मंदिर धर्मशाला पर टैक्स लगाकर उक्त कर का समान वितरण अधिक अच्छा होगा क्योंकि धार्मिक संपत्ति पूंजीपतियों का सुरक्षा कवच है।

प्रश्न 3.– रेल संपत्ति और बांधों पर कर लगने का बोझ तो आम आदमी पर ही पड़ेगा।

उत्तर– यात्रा करने वाले और बांध से सिंचाई करने वालों पर टैक्स बढ़ेगा। यदि ये आम आदमी है तब भी कोई हर्ज नहीं क्योंकि यह धन कहीं जा नहीं रहा है बल्कि सबमें बराबर बटने वाला है। किन्तु में जानता हूँ कि पूंजीपतियों और बुद्धिजीवियों के आम आदमी शब्द का क्या अर्थ होता है। मैंने सर्वेक्षण के बाद पाया कि 5 प्रतिशत नीचे वाले और 5 प्रतिशत धनाढ्य के बीच आवागमन व्यय में असंख्य गुने का अन्तर है। 5 प्रतिशत नीचे वाले नगण्य यात्रा करते हैं या साइकिल पर चलते हैं। मैं नहीं समझता कि आपके आम आदमी में ये शामिल हैं कि नहीं? साइकिल पर टैक्स लगाने से आम आदमी पर बोझ नहीं पड़ता और बस या रेल भाड़ा बढ़ने से आम आदमी पर बोझ पड़ेगा यह गलत नीति मालूम पड़ती है।

प्रश्न 4. संपति का मूल्यांकन कैसे होगा। लोग छिपा लेंगे?

उत्तर– वर्तमान कर प्रणाली में छिपाने के जितने मार्ग हैं उतने इस प्रणाली में नहीं है। संपूर्ण घोषित संपत्ति पर कुल कर 2 प्रतिशत मात्र है। यह कर प्रतिवर्ष है अतः एक बार छिपाने से काम नहीं चल सकता। भारत के प्रत्येक नागरिक की संपत्ति घोषित होने से छिपाना और कठिन है। संपत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त करके कुल संपत्ति पारिवारिक स्वामित्व का होने से भी छिपाना कठिन होगा। फिर एक बंधन यह भी है कि घोषित संपत्ति से 25 प्रतिशत अधिक मूल्य देकर किसी भी व्यक्ति की संपूर्ण संपत्ति को शासकीय संपत्ति कभी भी घोषित किया जा सकता है।

प्रश्न 5. इस तरह सम्पूर्ण संपत्ति कभी भी शासन ले ले यह अन्यायपूर्ण है?

उत्तर– न्याय अन्याय की परिभाषा सब मिलाकर तय करेंगे न कि सिर्फ संपत्ति वाले। समाज की तय शर्तों पर ही आपको न्याय और सुरक्षा की गारंटी मिल सकती है अन्यथा नहीं। जो लोग संपत्ति पर टैक्स देने के मामले में रोड़े खड़े करेंगे उनकी सुरक्षा समाज क्यों करेंगे? मुझे विश्वास है कि आम लोग इससे सहमत होंगे।

प्रश्न 6. रोटी, कपड़ा, मकान, दवा, साइकिल आदि पर टैक्स लगे यह तो उचित है किन्तु बिजली, डीजल, मिट्टी तेल, पोस्टकार्ड की मूल्य वृद्धि ठीक नहीं?

उत्तर– मुझे कृत्रिम ऊर्जा पर कर लगाने का शौक नहीं। मैं तो तीन बातें चाहता हूँ।

1. आर्थिक असमानता पर नियंत्रण हो।
2. श्रम–मूल्य बढ़े।
3. प्राथमिक उपभोक्ता वस्तुएं कर मुक्त हों।

इस संबंध में आपके द्वारा सुझाई गई प्रणाली के दुष्परिणाम दिख रहे हैं। अब मेरे द्वारा सुझाई गई प्रणाली का उपयोग करिये तब परिणाम स्पष्ट होगा। यदि आपके पास इन समस्याओं का कोई और समाधान हो तो लिखिए। में विचार करूँगा अन्यथा पूरे देश में या किसी सीमित क्षेत्र में प्रयोग करके देखिए तब परिणाम स्पष्ट होंगे। मेरे सुझावों से तथाकथित पूंजीपति या बुद्धिजीवी जो बोलचाल की भाषा में आम आदमी है उनके पास प्रश्नों की तो लम्बी कतार है किन्तु सुझाव नहीं है। में आपसे अपेक्षा करता हूँ कि आप अपने प्रश्न और सुझाव भेजेंगे।

"प्रजातंत्र का अर्थ मैं यह समझता हूँ कि इसमें नीचे से नीचे और ऊँचे से ऊँचे आदमी को आगे बढ़ने का समान अवसर मिले।"
– महात्मा गांधी

(8) समाज में श्रम का स्थान

व्यक्ति की आय के तीन साधन होते हैं–

1. श्रम
2. बुद्धि
3. धन

श्रम की शक्ति कम होती है, सीमित होती है तथा प्राकृतिक है। उसे बढ़ाने की सीमित संभावनाएं हैं। बुद्धि की शक्ति अधिक होती है तथा उसकी सीमाएं श्रम से बहुत अधिक बड़ी होती हैं। धन की शक्ति असीम होती है। धन स्वयं में आय का एक स्वतंत्र श्रोत होता है। अनेक पश्चिमी देशों में श्रम का मूल्य पचास किलो अनाज है, जबकि भारत के हरियाणा पंजाब आदि विकसित क्षेत्रों में आठ किलो तथा उड़ीसा, बिहार के कुछ क्षेत्र तथा सरगुजा जैसे अविकसित क्षेत्रों में ढ़ाई से तीन किलो अनाज प्रतिदिन। इस 2½ से 3 किलो अनाज पर भी वर्ष भर काम नहीं मिलता। इस तरह भारत में श्रम की उत्पादन क्षमता बहुत कम है। अमेंरिका और ब्रिटेन के अनेक बड़े लोग अपना घरेलू काम स्वयं करते हैं जबकि भारत में छोटे से छोटा काम भी नौकर से कराने की आदत है क्योंकि विदेशों में श्रम का बहुत अधिक सम्मान है तथा भारत में श्रम बहुत सस्ता। इस तरह दुनियां के अन्य देशों की तुलना में भारत में श्रम का, मूल्य महत्व तथा उत्पादन क्षमता बहुत कम है। दूसरी ओर दुनियां के अन्य देशों की अपेक्षा भारत में धन की उत्पादन क्षमता बहुत अधिक है। अमेंरिका, ब्रिटेन, आदि में धन की उत्पादन क्षमता तीन से छः प्रतिशत तक है जबकि भारत में धन की उत्पादन क्षमता बारह से पंद्रह प्रतिशत तक है। किसी भी देश की सुख–समृद्धि तथा सम्पन्नता का आधार है उस देश का न्यूनतम श्रम–मूल्य। दुनियां के किसी भी विकसित राष्ट्र में न्यूनतम श्रम–मूल्य चालीस पचास किलो अनाज प्रतिदिन से कम नहीं। दूसरी ओर गरीब राष्ट्रों का चार से आठ किलो तक होता है। इन गरीब राष्ट्रों में भी जो इलाका गरीब या पिछड़ा माना जाता है वहाँ का श्रम–मूल्य दो तीन किलो अनाज ही होता है। श्रम प्रगति की मूल इकाई है। पश्चिम के राष्ट्र श्रम–मूल्य की दृष्टि से सम्पन्न होने से वहाँ की प्रगति का मापदण्ड श्रम–मूल्य नहीं है किन्तु भारत की निर्धन स्थिति को देखते हुए प्रगति का मूल्यांकन श्रम–मूल्य के आधार पर ही होना चाहिये था। दुर्भाग्य है कि पिछले अनेक वर्षों से तो हम आंतरिक आवागमन तथा लोहा सीमैंनट के उपयोग को अपनी व्यक्तिगत प्रगति का आधार मानते रहे जबकि अब तो ऐसा लगता है कि भारत की प्रगति का मूल्यांकन न श्रम–मूल्य से होगा, न ही उपभोक्ता सामग्री की प्रचुरता से बल्कि अब तो भारत की प्रगति एटम या हाइड्रोजन बमों की शक्ति और संख्या से आकंलित की जायेगी। श्रम रोजगार के आकलन की पहली इकाई है तथा बुद्धि दूसरी। पश्चिम के धनाढ्य देश श्रम अभाव देश हैं, अतः वहाँ श्रम का रोजगार से कोई सम्बन्ध नहीं। यही कारण है कि विकसित देश बेरोजगारी का आकलन और समाधान करने में बुद्धि को मापदण्ड मानते हैं। उनकी परिभाषा अनुसार योग्यतानुसार काम और तदनुसार वेतन न मिलना ही बेरोजगार है। भारत अब तक श्रम आधारित बेरोजगारी ही नहीं दूर कर सका है। फिर उसे विकसित राष्ट्रों की इस परिभाषा को आधार क्यों बनाना चाहिये? जिन देशों की आय का औसत बुद्धि पर आश्रित है वे चाहे जैसी योजना और परिभाषा बनावें किन्तु हम तो श्रम से ऊपर उठे ही नहीं है। हमें बेरोजगारी की अपनी स्वदेशी परिभाषा बनानी चाहिये अर्थात् न्यूनतम घोषित श्रम–मूल्य पर योग्यतानुसार काम की उपलब्धता। इस परिभाषा के माध्यम से श्रम और रोजगार एक साथ जुड़ कर बेरोजगारी का मानवीय हल निकाल सकेंगे अन्यथा पश्चिम की परिभाषा के आधार पर हम श्रम के साथ अन्याय भी करते रहेंगे और बेरोजगारी भी दूर नहीं होगी। मुझे आश्चर्य है कि भारत में शिक्षित व्यक्ति भी बेरोजगार होता है जबकि मान्यता अनुसार शिक्षित व्यक्ति श्रम प्रधान की अपेक्षा बहुत अधिक सुविधाजनक स्थिति में है। श्रम प्रधान व्यक्ति रोजगार हेतु सिर्फ श्रम पर निर्भर है। जिसकी शक्ति और क्षमता सीमित तथा एकांगी है जबकि शिक्षित व्यक्ति आय के लिये श्रम के साथ साथ बुद्धि का भी उपयोग कर सकता है। मुझे तो लगता है कि शिक्षित बेरोजगार शब्द स्वयं में ही श्रम जीवियों के विरूद्ध बुद्धिजीवियों का षड्यंत्र है जो श्रम को रोजगार के साथ सीधा जुड़ने में बाधक है। पता नहीं कि किस तरह हमारे सामाजिक चिंतक देश के अनेक भागों में पन्द्रह और बीस रूपये मिल रही मजदूरी को उतनी बड़ी बेरोजगारी नहीं मानते जितनी एक सौ रूपया प्रतिदिन वाले शिक्षक, दो सौ रूपया डाक्टर या सब इन्जीनियर की बेरोजगारी को मानते हैं। जब भी मैं बेरोजगारी के साथ शिक्षित शब्द जुड़ा देखता हूँ तो मुझे कष्ट होता है। बेरोजगारी की ऐसी परिभाषा पर तथा में सोचता हूँ कि मुझे श्रम के संगठित षड्यंत्र के खिलाफ कुछ करना चाहिये। श्रम तथा श्रमजीवियों को भ्रम में डालने के लिये एक और सुविधा है। श्रम–मूल्य का आकलन उसके एक दिन के श्रम के लिये मिलने वाली वस्तुओं की मात्रा के आधार पर होना चाहिये था न कि धन के आधार पर। मान लें कि सन् 81 के आधार पर श्रम–मूल्य में तीन गुनी की वृद्धि हुई किन्तु मुद्रा–स्फीति के आधार पर रूपये का मूल्य साढ़े तीन गुना कम हो गया तो वास्तव में श्रम–मूल्य घटा है जबकि व्यवस्था के आकलन के अनुसार श्रम–मूल्य बढ़ा है। यदि सन् 81 में एक दिन के श्रम के लिए हमारे क्षेत्र में ढ़ाई से तीन किलो अनाज मिलता था तो आज भी उसे उतना ही मिलता है। फिर बेरोजगारी दूर करने और प्रतिवर्ष श्रम–मूल्य बढ़ाने की घोषणा का क्या अर्थ है? यदि मुद्रा–स्फीति के आधार पर श्रम–मूल्य में संशोधन होता है तो वह श्रम–मूल्य वृद्धि नहीं मानी जा सकती क्योंकि रूपया स्वयं में स्थिर न होने से वह मूल्य वृद्धि तो संशोधित मूल्यांकन मात्र होती है। अतः श्रम–मूल्य का आकलन भी प्रचलित रूपये के आधार पर करना भ्रम उत्पन्न करता है। भारत में श्रम की वास्तविक दुर्दशा को दुनियां की नजरों से छिपाने के लिये एक और तकनीक का सहारा लिया जाता है और वह है कृत्रिम श्रम–मूल्य। इस प्रणाली में कुछ संगठित गिरोह सरकार की मिली भगत या दबाव डालकर वास्तविक श्रम–मूल्य से हटकर एक कृत्रिम श्रम–मूल्य घोषित करवा लेते हैं जो वास्तविक श्रम–मूल्य से बहुत अधिक होता है। यह श्रम–मूल्य

सरकारी कार्य या अन्य संगठित समूहों द्वारा दिया जाता है किन्तु शेष पूरे देश का श्रम–मूल्य इस बढ़े मूल्य से प्रभावित नहीं होता। इसके परिणाम स्वरूप पूरी दुनियां अथवा समाजशास्त्रियों का मुंह बन्द हो जाता है तथा वास्तविक श्रम–मूल्य पर्दे के पीछे ढ़ॅक जाता है। वर्तमान समय में हमारे सरगुजा जिले का वास्तविक श्रम–मूल्य सिर्फ बीस से तीस रूपये प्रतिदिन है जबकि कृत्रिम श्रम–मूल्य पचास रूपये प्रतिदिन के आस पास है। न्यूनतम श्रम–मूल्य घोषित करने का तो यही अर्थ है कि उक्त श्रम–मूल्य पर सरकार रोजगार देने हेतु बाध्य है किन्तु यदि सरकार इतना रोजगार दे नहीं सकती तो श्रम–मूल्य में नकली वृद्धि श्रम–मूल्य वृद्धि में घातक प्रभाव पैदा करती है। बुद्धिजीवियों ने श्रम के साथ षड्यंत्र करने के अनेक और भी तरीके निकाल लिये हैं। कृत्रिम ऊर्जा को श्रम सहायक मान लिया गया है जबकि कृत्रिम ऊर्जा श्रम का विकल्प है। बिल्कुल स्पष्ट है कि कृत्रिम ऊर्जा श्रम की मांग कम करती है। अतः श्रम अभाव देश में तो कृत्रिम ऊर्जा को सस्ता रखकर उस पर निर्भरता बढ़ाई जा सकती है किन्तु श्रम बहुल देश में कृत्रिम ऊर्जा को सस्ता करना और उस पर निर्भरता बढ़ाना बिल्कुल ही गलत कार्य है। भारत में सन् साठ की तुलना में कृत्रिम ऊर्जा की मांग आबादी की तुलना में पच्चीस गुनी अधिक बढ़ी है तथा उसी अनुपात में उसकी पूर्ति भी बढ़ी है। कृत्रिम ऊर्जा का मूल्य भी सन् 1960 की अपेक्षा कम हुआ है किन्तु मुद्रा–स्फीति को मूल्य वृद्धि प्रचारित करके कृत्रिम ऊर्जा की मंहगाई का झूठ जनता के बीच सच बना दिया गया। मानवीय ऊर्जा के उत्पादन स्त्रोत अनाज, कपड़ा, फल, सब्जी, मकान दवा आदि पर भारी कर लगाये गये जबकि डीजल, बिजली, गैस, कोयला, मिट्टी तेल आदि पर सब्सीडी दी गई। इस षड्यंत्र से श्रम की मांग घटी और कृत्रिम ऊर्जा की बढ़ी। भारत में श्रम–मूल्य के न बढ़ने का यह सबसे बड़ा कारण है। आश्चर्य और लज्जा का विषय है कि भारत में साइकिल पर टैक्स लगता है किन्तु इस सम्बन्ध में अब तक कोई आंदोलन नहीं हुआ। कुल मिलाकर देखा जाए तो भारत में पूँजीपतियों तथा बुद्धिजीवियों का एक संयुक्त षड्यंत्र चल रहा है जो सरकार के माध्यम से तो अपने अनुकूल योजनाएं बनवाता है तथा अखबारों के माध्यम से श्रम जीवियों के बीच भावनात्मक प्रचार कराता है। अनेक सामाजिक संस्थाएं भी उन्हीं के धन से श्रमिकों के हितों के नाम पर विपरीत प्रचार में संलग्न रहती हैं।

प्रस्तावित व्यवस्था में तीन प्रकार के सुझाव रखता हूँ–

1. बेरोजगारी दूर करना। श्रम नीति बनाना, ऊर्जा सीमित बनाना आदि कार्य सरकार से हटकर ग्राम या जिला सभा करें। श्रम–मूल्य की घोषणा भी सरकार न करे। यदि सरकार न्यूनतम श्रम–मूल्य घोषित करें तो उक्त श्रम–मूल्य पर किसी भी व्यक्ति को रोजगार प्राप्त करना उसका मूल अधिकार हो।
2. श्रम–मूल्य की स्वाभाविक वृद्धि हेतु कृत्रिम ऊर्जा के मूल्यों में एकाएक ढ़ाई गुना की वृद्धि कर दी जाय।
3. भारत की प्रगति का आकलन उसके न्यूनतम श्रम–मूल्य वृद्धि के आधार पर हो।

में जानता हूँ कि अनेक विद्वान मेरे दूसरे प्रस्ताव से चौंकेंगे। उन्हें इससे तीन कठिनाइयां बढ़ती दिखेंगी।

1. उत्पादन घटेगा।
2. वस्तुएं मंहगी होगी।
3. भारत बैलगाड़ी युग में चला जायेगा।

मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि पहले दोनों सोंच बिल्कुल विपरीत हैं। सच्चाई यह है कि भारत का उत्पादन भी बढ़ेगा तथा उपभोक्ता वस्तुएं भी सस्ती होंगी। आवागमन अवश्य मंहगा होगा किन्तु आवागमन मंहगा होने के बाद भी वस्तुएं मंहगी नहीं होंगी क्योंकि आवागमन व्यय की अपेक्षा कई गुना कर उत्पादक या उपभोक्ता वस्तुओं पर अभी लगता है जो समाप्त होगा। जहाँ तक बैलगाड़ी युग की बात है तो इतना अवश्य होगा कि आवागमन मंहगा होने से आवागमन सुविधा घटेगी। किन्तु यदि आवागमन सुविधा में कुछ कमी आने से श्रम–मूल्य बढ़ता है, रोजगार के अवसर बढ़ते हैं, उपभोक्ता वस्तुएं सस्ती होती है तो वह मानवीय दृष्टिकोण हमें स्वीकार करना चाहिये। बैलगाड़ी युग से बाहर निकलना अच्छी बात तो है किन्तु यह कार्य श्रम के विरूद्ध षड्यंत्र करके नहीं होना चाहिये। मैंने नई व्यवस्था हेतु प्रस्तावित भारतीय संविधान में उक्त तीनों प्रावधानों का समावेश किया है। साथ ही मुद्रा को भी मूल रूपया के रूप में स्थायी करने की योजना रखी है जिससे मुद्रा–स्फीति, कृत्रिम श्रम–मूल्य, मंहगाई आदि का भ्रम बन ही न सके।

(9) समान नागरिक संहिता

समाज शब्द की दो परिभाषाएं होती हैं–

1. स्वयं विकसित दीर्घकालिक नियम पालन से प्रतिबद्ध व्यक्तियों का समूह।
2. प्रत्येक इकाई की इकाईगत स्वतंत्रता को मान्य करने वाले व्यक्तियों का समूह। समाज की दोनों में से चाहे जो परिभाषा हम मान्य करें किन्तु मानव समूह में वर्ग विभाजन का एकमात्र आधार है। मानव की प्रवृति के आधार पर सिर्फ दो ही वर्ग बन सकते हैं–

1. सामाजिक
2. समाज विरोधी

इस प्रकार समाज विरोधी व्यक्ति समाज का अंग नहीं माना जा सकता है क्योंकि वह तो समाज का ही विरोधी है। जो लोग नियमों के विपरीत आचरण करते हैं वे समाज के अंग नहीं हैं तभी तो उन्हें समाज से अलग जेल में रखा जाता है या मार दिया जाता है। समाज और समाज विरोधियों के बीच सदा संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष आज भी चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा। समाज विरोधियों से समाज की सुरक्षा के लिये जो व्यवस्था समाज ने की उस व्यवस्था का संचालन करने वाली इकाई को राज्य कहते हैं। इस तरह राज्य का एकमात्र दायित्व है समाज की सुरक्षा। समाज की सुरक्षा हेतु बनने वाली इकाई की भूमिका प्रजातंत्र में शासक की न होकर सेवक की होती है किन्तु राज्य से जुड़े लोग स्वयं को शासक के रूप में समझने की मनः स्थिति स्थापित कर लेते हैं। अतः वे निरंतर इस प्रयास में लगे रहते हैं कि उनकी शक्ति और आवश्यकता समाज में बनी रहे। यदि समस्याएं हल हो गईं या आपसी विवाद नहीं रहे तो उनके अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो सकता है। अतः राज्य से जुड़े लोगों की शासक बने रहने की महत्वाकांक्षा ही उन्हें दो दिशाओं में सक्रियता हेतु प्रेरित करती है।

1. जनकल्याण के कार्य।
2. समाज का विघटन। सत्ता के खेल में सक्रिय लोग जनकल्याण के कार्यों में भी सफलता पूर्वक लगे हैं और समाज की एकजुटता को तोड़ने में भी समाज की एकजुटता उनकी सफलता में बांधक है अतः दो बिल्लियों को आपस में लड़ाकर स्वयं बन्दर की भूमिका उनके लिये आवश्यक है तथा दो बिल्लियों को आपस में लड़ाने का एकमात्र आधार है बिल्लियों की रोटी को समान न होने देना तथा दोनों बिल्लियों को निरंतर यह महसूस कराते रहना कि उसकी रोटी दूसरों से छोटी है जो स्वयं में अन्याय है, अतः राज्य समानता की आवश्यकता बताते हुए समाज में जागृति का ढ़ोंग भी करता है तथा समानता में सर्वाधिक बाधक भी होता है। इस तरह राज्य का यह प्रयास होता है कि समाज में वर्ग निर्माण का आधार प्रवृति के स्थान पर अन्य कोई भी हो और इसीलिये राज्य से जुड़े लोग सत्ता और विपक्ष में बंटकर कोई न कोई ऐसा मुद्दा उछालते रहते हैं जो समाज को प्रवृति के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर दो वर्गों में विभाजित कर दें।

वर्तमान समय में समाज जाति, धर्म, भाषा, राष्ट्र, क्षेत्रीयता, आर्थिक स्थिति, और लिंग, इन सात प्रमुख आधारों पर विभाजित है। पिछले पचास वर्षों से इन आधारों पर संगठन बनाने तथा वर्ग–विद्वेष बढ़ाने के प्रयास जारी है। भाषा का मामला अब उतना प्रभावी नहीं रहा जाति, धर्म, राष्ट्र क्षेत्र और आर्थिक स्थिति आज भी पर्याप्त प्रभाव रखते हैं तथा लिंग भेद अपने प्रारंभिक चरण में है जो अब सर्वाधिक सफल अस्त्र समझा जा रहा है। नये–नये संगठन बन रहे हैं। संगठन का सैद्धान्तिक पक्ष होता है, मजबूत से सुरक्षा और व्यावहारिक पक्ष होता है कमजोरों का शोषण। कोई भी संगठन चाहे वह भिखारियों या मजदूरों का ही क्यों न हो, प्रारम्भ में शोषण के विरूद्ध टकराता है तथा टकराव में जीत जाने के बाद स्वयं शोषण करता है। यहीं संगठन का नियम है। धीरे–धीरे ये संगठन स्वयं के साथ समाज शब्द जोड़ लेते हैं। इस तरह समाज का वास्तविक स्वरूप नष्ट होकर एक के स्थान पर अनेक समाज बन जाते हैं जो समाज में भ्रम पैदा करते हैं।

समाज में समानता के प्रयास ही स्वयं में षड्यंत्र है। जब प्राकृतिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव, भिन्न–भिन्न क्षमता के हैं तो इन भिन्न–भिन्न क्षमताओं के समान परिणाम न तो संभव हैं न ही उचित। राज्य द्वारा इन असमान परिणामों को समान करने का प्रयास ही वर्ग–विद्वेष का सूत्रधार है। समान का अर्थ व्यक्तियों के आपसी संव्यवहार में समानता नहीं हो सकता बल्कि व्यक्तियों के आपसी संव्यवहार में राज्य की भूमिका की समानता से लिया जाना चाहिये किन्तु राज्य ने इसके ठीक विपरीत अर्थ निकालकर व्यक्तियों के आपसी संव्यवहार में समानता के प्रयास शुरू किये जो वास्तव में राज्य की असमान भूमिका के आधार बने। राज्य असमानता दूर करने का माध्यम बनकर असमानता की परिभाषा, पहचान तथा अपने हस्तक्षेप की भूमिका बनाने में लग गया। अब राज्य शासक की भूमिका में खड़ा हो गया।

राज्य के अतिरिक्त कोई भी अन्य इकाई यदि समानता के प्रयास करें तो वह समाज के हित में हैं क्योंकि वह किसी इकाई के इकाई गत मामले में हस्तक्षेप तो कर नहीं सकती। अधिक से अधिक उसकी भूमिका यही हो सकती है कि वह ज्ञान दे या सहायता करें। समानता के लिये ज्ञान या सुविधा देना या अन्य कोई सहायता करना तो पुण्य कार्य है। किन्तु राज्य ही एकमात्र ऐसी अधिकार सम्पन्न इकाई है जो समाज विरोधी तत्वों की पहचान भी करती है और दण्डित भी। अतः यदि राज्य ही समानता के कार्य में लग गया तो राज्य का अपना कार्य तो पिछड़ेगा ही, राज्य स्वयं ही अन्याय का केन्द्र बन जायेगा क्योंकि समानता संभव ही नहीं है जब तक मनुष्य रोबोट या मशीन कृत न हो। अतः समानता का सिर्फ एक ही अर्थ होता है समान नागरिक संहिता न कि समान व्यक्ति संहिता। नागरिक संहिता और व्यक्ति संहिता बिल्कुल भिन्न–भिन्न हैं। व्यक्ति अपनी आचरण संहिता के लिये स्वतंत्र है किन्तु जब उसका संबंध किसी अन्य के साथ जुड़ता है तब नागरिक संहिता लागू होती है और राज्य की भूमिका

बीच में आ जाती है। नागरिक संहिता का उद्देश्य किसी इकाई के इकाईगत संव्यवहार को स्थापित करना नहीं है बल्कि इकाईयां के बीच में आपसी संव्यवहार को नियमित करना है। इस तरह यदि हम भारत के वर्तमान संविधान पर विचार करें तो उसकी उद्देश्यिका में ही अवसर की समानता शब्द लिखकर भूल कर दी गई। अवसर की स्वतंत्रता शब्द होना चाहिये था किन्तु वैसा नहीं हुआ। भारतीय संविधान का निर्माण करते समय या तो संविधान निर्माताओं ने भूल की या उस समय की परिस्थितियों ने उन्हें ऐसे गोलमटोल अंश जोड़ने को मजबूर किया यह कहना संभव नहीं किन्तु संविधान का प्रारूप देखकर ऐसा महसूस तो होता है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। भारतीय संविधान की धारा चौदह में लिखा है कि भारत राज्य के किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायेगा। संविधान की धारा पन्द्रह में लिखा है कि राज्य किसी नागरिक से धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग, जन्म स्थान के आधार पर कोई विभेद नहीं करेंगे किन्तु यह बात बालकों, स्त्रियों, हरिजनों, आदिवासियों तथा सामाजिक शैक्षणिक पिछड़े लोगों के संबंध में लागू नहीं होगी। भारत की सम्पूर्ण आबादी में से यदि इन सबकों निकाल दिया जाय तो शेष करीब दस प्रतिशत ही नागरिक बचते हैं जिनके संबंध में राज्य विभेद नहीं करेंगे। अब में नहीं समझ पा रहा हूँ कि संविधान में विभेद नहीं करेंगे यह लिखने की आवश्यकता ही क्या थी? क्या किसी भी सामान्य नियम से 90 प्रतिशत का अपवाद हो सकता है? पहले समानता की बात लिखकर परन्तु लगाना और परन्तु लगाकर मूल बात को अर्थ हीन बनाना जैसी चालाकी, समझमें नहीं आता कि क्यों की गई? धारा चौदह में जब राज्य के समक्ष प्रत्येक व्यक्ति समानहोगा तब धारा पन्द्रह में धर्म, जाति, मूल वंश आदि फिर लिखने की क्या आवश्यकता थी? धारा चौदह ही समानता के लिये पर्याप्त थी। फिर यह भी स्पष्ट है कि धारा चौदह में व्यक्ति शब्द है, फिर धारा पन्द्रह में नागरिक शब्द क्यों किया गया? जब भारत का व्यक्ति ही समान है तब नागरिक तो अपने आप समान हो गया। इसी तरह धारा सोलह में लिखा गया है कि राज्य के अधीन किसी पद पर नियुक्ति में अवसर की समानता होगी। किन्तु इसी संविधान की प्रस्तावना में इसके ठीक विपरीत लिखा गया है कि राज्य अवसर की समानता प्राप्त कराने की व्यवस्था करेंगे। राज्य के पदों पर नियुक्ति में समानता तथा सभी अवसरों पर अवसर की समानता में बहुत अन्तर है। यदि धारा सोलह के आधार पर सिर्फ शासकीय नौकरियों में समानता की बात राज्य का दायित्व है तो प्रस्तावना में अवसर की समानता प्राप्त कराने जैसा शब्द अनावश्यक है। इसी तरह धारा सोलह में पहले लिखा गया कि राज्य के समक्ष सबकों शासकीय नौकरियों में धर्म, जाति, वंश, लिंग, जन्मस्थान या निवास के आधार पर वंचित नहीं किया जायेगा। इस तरह समानता के विचार को इतना प्रबलस्वरूप दिया गया है कि उस बात को दो बार लिखा गया किन्तु उसके तत्काल ही बाद लिख दिया गया कि यह बात किसी पिछड़े हुए या धर्म विशेष के सम्बन्ध में लागू नहीं होगी। इस तरह इस धारा का भी परन्तु लगाकर पूरा अर्थ ही निष्क्रियकर दिया गया। जब परन्तु लगाकर समानता के अर्थ को कमजोर ही करना था तो उसे दो बार लिखकर मजबूत ही क्यों करना था? इसी तरह धारा उन्नीस में लिखा है कि भारत के प्रत्येक नागरिक को वाक स्वातंत्र्य, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, निरायुध शांतिपूर्ण सम्मेलन, सर्वत्र आबाध संचरण, भारत में कहीं भी बस जाने का कोई भी व्यापार कारोबार करने की स्वतंत्रता होगी। किन्तु यह बात भारत की प्रभुता, अखण्डता, राज्य की सुरक्षा, विदेश संबंध, लोक व्यवस्था, भ्रष्टाचार सदाचार, आदि के हित में राज्य को निगम बनाने से नहीं रोकेगी। यह में आज तक नहीं समझ सका कि लोक व्यवस्था और सदाचार तक के लिये राज्य को अधिकार दे देने के बाद बाकी क्या बचता है? इस तरह भारतीय संविधान में जहाँ–जहाँ समानता की घोषणा की गई है वहीं वहीं परन्तु लगातार समानता को पूरी तरह निष्प्रभाषी करने की भी चालाकी की गई है। मेरे विचार में भारतीय संविधान की यह एक बड़ी कमजोरी है। मैं आज तक नहीं समझ सका कि भारतीय संविधान ने इकाईयां के स्थान पर वर्ग को क्यों महत्व दिया? व्यक्ति, परिवार और ग्राम की स्वाभाविक इकाइयां थीं। फिर धर्म, जाति, और लिंग के आधार पर बने संगठनों को इकाई मानना क्यों आवश्यक हुआ? मेरे विचार में स्वतंत्रता की जल्दी में संविधान निर्माताओं ने अपना संविधान बनाने के स्थान पर विदेशों के अनेक संविधानों की कुछ कुछ बातें मिलाकर एक नया संविधान बना दिया। दूसरी बात यह भी रही है कि अंग्रेजों के लिये फूट डालकर राज्य करना मजबूरी थी जिसके लिये उन्होंने धर्म, जाति, भाषा, लिंग आदि के आधार पर वर्ग निर्माण को प्रोत्साहित किया। तीसरी बात यह भी संभव है कि स्वतंत्रता के समय बने हुए वर्ग स्वतंत्रता में बाधक न बन जावें इसलिये भी संविधान निर्माताओं ने उस समय के अनेक वर्गों से समझौते किये। यह भी हो सकता है कि स्वतंत्रता की लड़ाई में अति भावना प्रधान राष्ट्र पुरूषों को जब संविधान बनाना पड़ा तो ये उच्च आदर्शवादी संविधान बनाने की भूल कर बैठे। व्यावहारिकता का आकलन नहीं कर सके। कारण चाहे जो हो किन्तु भारत में प्रचलित संविधान ने वर्ग–विद्वेष कों भरपूर मदद की। परिणाम यह हुआ कि आज भारत का आम नागरिक धर्म, जाति, और आर्थिक स्थिति के आधार पर बने कई वर्गों में विभाजित होकर आपसी संघर्ष में उलझ गया है। भाषा और क्षेत्रीयता के नाम पर होने वाले वर्ग संघर्ष में कुछ कमी दिख रही है और उसके स्थान पर उम्र और लिंग भेद धीरे–धीरे स्थान ग्रहण कर रहा है। गरीब और अमीर के बीच वर्ग–विद्वेष अपने चरम पर है और साम्यवादी दल इस विवाद को ही मुख्य मुद्दा बनाये हुए हैं। आदिवासी हरिजन और पिछड़ों को उच्च जाति से लड़ा भिड़ाकर जनतादल, राष्ट्रीय जनतादल, सत्ता प्राप्त करना चाहता है। भाजपा का हिन्दुओं का मुसलमानों और इसाईयों के विरूद्ध मोर्चा बनवाना जग जाहिर है। कांग्रेस इन सबके समान स्पष्ट न होकर गरीब, आदिवासी, हरिजन तथा इसाई मुसलमान को प्रत्यक्ष तथा अन्यों को अप्रत्यक्ष समर्थन देकर टकराव में निरंतर घी डालती रहती है। वर्ग–विद्वेष के मामले में कांग्रेस का खेल सबकी अपेक्षा अधिक अप्रत्यक्ष, चालाकी भरा और खतरनाक रहा है। इस तरह वर्तमान में कोई भी दल ऐसा नहीं जो वर्ग संघर्ष का मार्ग छोड़कर समाज विरोधी तत्वों के विरूद्ध समाज को एकत्र करने का विश्वास करता हो। और कोई दल करे भी कैसे? जब भारतीय संविधान की प्राथमिकताएं ही वर्ग–विद्वेष को आधार बनाकर निश्चित की गई हों तब कोई भी राजनैतिक दल किस तरह कोई अन्य पहल कर सकता है। मैंने बहुत गंभीरता से इस मुद्दे पर विचार किया और इस नतीजे पर पहुंचा कि भारत के अधिकांश विवाद भारतीय संविधान की असमान नागरिक संहिता के ही फल Product हैं। अतः यदि इन विवादों को नियंत्रित करना है तो भारत में समान नागरिक संहिता अपनानी होगी अर्थात् भारत एक सौ करोड़

व्यक्तियों, बीस करोड़ परिवारों या एक लाख गांवों का देश होगा न कि धर्मों, जातियों लिंगों या आर्थिक स्थिति के आधार पर बने वर्गों का संघ। ऐसा परिवर्तन आवश्यक है। इस उद्देश्य से मैंने प्रस्तावित संविधान की धारा 159 में यह प्रावधान किया है कि भारतीय संविधान के अन्तर्गत किसी भी मामले में धर्म, जाति, भाषा और लिंग का कोई भेद नहीं किया जायेगा। यह प्रावधान बिल्कुल स्पष्ट है तथा इसमें कोई किन्तु परन्तु नहीं है। इस एक प्रावधान से ही सब प्रकार के वर्ग टकराव समाप्त हो जायेंगे।

प्रश्न 1. भारतीय जनता पार्टी हमेंशा समान नागरिक संहिता के पक्ष में रही है। क्या आपका सोच भी उसी दिशा में हैं?

उत्तर– यह कहना गलत है कि भारतीय जनता पार्टी समान नागरिक संहिता के पक्ष में हैं। समान नागरिक संहिता और हिन्दू राष्ट्र या गोवध बन्दी की मांग परस्पर विरोधी है। भा. ज. पा. का संघ गुट समान नागरिक संहिता के नाम पर मुस्लिम विशेषाधिकार हटाने तक ही सीमित है। में समान नागरिक संहिता मुस्लिमों की प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्तुत नहीं कर रहा बल्कि व्यापक रूप में रख रहा हूँ।

प्रश्न 2. क्या समान नागरिक संहिता लागू होने पर गोवध बन्दी की मॉग बन्द होगी?

उत्तर– कानून की दृष्टि में सभी पशु पशु होंगे। सरकार को किसी पशु के बध या सुरक्षा में कोई हस्तक्षेप नहीं करना है क्योंकि यह उसका दायित्व नहीं है। गांव यदि ऐसा कोई नियम बनावे तो बना सकता है।

प्रश्न 3. आज महिलाओं को समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं। उन्हें पुरूषों के अत्याचार से सुरक्षा चाहिये। उन्हें शिक्षा में और नौकरी में प्राथमिकता चाहिये। उन्हें पुरूषों के शोषण के बचाने हेतु आरक्षण चाहिये। आपके अनुसार यदि हुआ तो महिलाओं के साथ तो घोर अन्याय हो जायेगा?

उत्तर– महिलाओं के संबंध में आपके विचार प्रथा पर आधारित है विचार पर नहीं। मैंने इस समस्या पर गहन विचार किया तो पाया कि महिलाओं के सम्बन्ध में समाज में अनेक भ्रान्तियां फैलाई गई है।

1. आम तौर पर माना जाता है कि समाज में पुरूष वर्ग महिलाओं के वर्ग को दबाकर रखता है तथा महिलाएं पुरूषों के समक्ष दूसरे दर्जे का वर्ग मानी जाती हैं। किन्तु यह धारणा पूर्णतः गलत है। परिवार में पुरूष प्रधान व्यवस्था लागू है किन्तु समाज में नहीं। एक कलेक्टर की पत्नी को उसका चपरासी पुरूष दूसरा दर्जा नहीं देता या मेंरी पत्नी ही मेरे पुरूष नौकर को पहला दर्जा नहीं मानती। अतः नारी पुरूष अधिकार भेद परिवार व्यवस्था तक सीमित है न कि पुरूष वर्ग और महिला वर्ग तक। मुसलमान राष्ट्रों में तो यह वर्ग भेद है किन्तु भारत में नहीं।
2. परिवार में पुरूष नारी पर अत्याचार करता है। ऐसी धारण बनी हुई है जो गलत है। वास्तव में पुरूष का चरित्र अत्याचारी नहीं है बल्कि यह समान व्यवस्था का दोष है जो पुरूष प्रधान परिवार व्यवस्था को मानता है। किसी भी परिवार कीसंरचना में प्रत्येक महिला अपने से अधिक योग्य पुरूष के साथ और प्रत्येक पुरूष कम योग्य महिला के साथ जुड़कर परिवार बनाते हैं। ऐसे परिवार में पुरूष का प्रधान होना स्वाभाविक है। जो महिलाएं पुरूष अत्याचारों के विरूद्ध समाज में सक्रिय हैं वे भी अपनी कन्याओं का विवाह कमयोग्य पुरूष से करना नहीं चाहती। पुरूष प्रधान व्यवस्था को पुरूष अत्याचार कहना गलत है। इसके लिये तो विवाह के समय ही परिवार रचना पर योग्यता का मापदण्ड बदलने की आवश्यकता होगी।
3. यह धारणा फैली हुई है कि दहेज के लिये महिलाओं पर भारी अत्याचार होते हैं। यह धारणा भी गलत है। दहेज अत्याचार महिलाओं पर पुरूषों द्वारा नहीं होते बल्कि महिलाओं की ही भूमिका इसमें अधिक होती है। दहेज हत्याओं के किस्से भी बहुत चढ़ा कर प्रचारित हो रहे हैं। मैंने एक शहर का सर्वेक्षण करके पाया कि वहाँ पति प्रताड़ित महिलाओं की आत्महत्याएं दस वर्षों में चार हुईं और पत्नी प्रताड़ित पुरूषों की आत्म हत्याएं भी उक्त अवधि में चार हुईं। सच्चाई यह है कि अनेक परिवारों में पत्नी पीड़ित है, अनेक में पति। अत्याचार किसी वर्ग का स्वभाव नहीं बल्कि व्यक्ति का स्वभाव है।
4. एक धारणा यह भी फैली हुई है कि पति पत्नी पर निरंतर अत्याचार करता है। पति शोषक और पत्नी शोषित है। यह सोच भी गलत है। यदि पति शोषक मात्र होता तो पति की मृत्यु पर पत्नी प्रसन्न होती क्योंकि शोषक से मुक्ति कभी कष्टदायक नहीं हो सकती। इस तरह स्पष्ट है कि पुरूष वर्ग के द्वारा महिला वर्ग के उत्पीड़न की बात गलत है। सच्चाई यह है कि समाज व्यवस्था में महिला और पुरूष समानता का जो आधार निर्धारित हुआ वह बदलना चाहिए। अब तक महिला पुरूष समानता में दो योग सिद्धांत काम में आते हैं।
    1. सम्पूर्ण समानता जिसमें प्रत्येक मकान जमीन और सामान का अलग–अलग दो भाग हो जाता है।
    2. योग समानता जिसमें कुल सम्पत्ति एक करके दो भाग होता है। इसमें आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मकान या जमीन को बीच में बांट दिया जाये। अब तक योग सिद्धांत के अनुसार बाहर की व्यवस्था पुरूष को और घर की नारी को दी गई। यदि पुरूषों को

कुछ अधिकार दिये गये तो नारी को भी कई विशेष अधिकार देकर उसकी भरपाई की गई। समाज की इस व्यवस्था के कारण परिवार में पुरूष और नारी के बीच एक खाई पैदा हुई जिसे सुधारा जाना चाहिए विवाह के समय पुरूष से नारी अधिक योग्य का चयन हो यह कानून से संभव नहीं और न ही यह आवश्यक ही है किन्तु परिवार की सम्पत्ति में पुरूष और नारी का समान हिस्सा स्थापित हो जाये तो अनेक समस्याएं हल हो जायेंगी।

मैंने प्रस्तावित संविधान में तीन संशोधन किये हैं:–

1. परिवार की सम्पत्ति में परिवार के सदस्यों का समान हिस्सा होगा। लड़की जब तक पिता परिवार में हैं तब तक वह वहाँ का हिस्सा है। पति परिवार में शामिल होते समय वह पिता परिवार से हिस्सा लेकर पति परिवार में शामिल होगी और पति परिवार में ही उसका हिस्सा होगा।
2. परिवार का मुखिया परिवार के लोग चुनेंगे।
3. परिवार प्रमुख परिवार का सबसे अधिक उम्र का व्यक्ति होगा। इससे 50: प्रमुख महिलाओं में से अपने आप का जावेगी तथा मुखिया चुनने में भी उनकी भूमिका का महत्व बढ़ जावेगा। ये तीन ही संशोधन महिला समानता के लिये पर्याप्त हैं।

महिला समानता के नाम पर आरक्षण या आन्दोलन की चर्चा घातक भी है और षड्यंत्र भी। अन्य जो भी वर्ग बनाये गये उन सबने समाज में विद्वेष फैलाया है। परन्तु परिवार अछूता रहा किन्तु महिला पुरूष वर्ग भेद ने पति पत्नी के बीच भेद की दीवार खड़ी कर दी जो महिलाओं के उत्थान से होने वाले लाभ की अपेक्षा अधिक हानिकारक होगी। महिला समानता का कोई ऐसा मार्ग खोजा जाना चाहिए जो कि परिवार टूटने का आधार न बन जावे। अतः यह वर्ग भेद घातक है। इस वर्ग भेद में सम्पन्नों बुद्धिजीवियों का षड्यंत्र भी है। यदि संसद या शासकीय नौकरी में लाभ के पद महिलाओं के नाम पर आरक्षित हो जावे तो अप्रत्यक्ष रूप से राजनीति कुछ परिवारों तक सिमट कर रह जायेगी। पहले कुल पांच सौ चालीस सांसदों में चार सौ परिवारों के लोग चुनकर जाते थे जो अब महिला आरक्षण के बाद तीन सौ परिवार में सिमट आवेंगे क्योंकि महिला कोटे से पत्नी का भी जाना सुगम हो जायेगा। यदि युवकों का भी आरक्षण हो जाये तो और अच्छा हो जायेगा। सारा खानदान ही संसद में पहुंच जावेगा। जो लोग महिला आरक्षण की बात करते हैं वे बतायें कि संसद में मेरे परिवार की महिलाएं वर्तमान सांसद की पत्नी के संसद में पहुंचना अधिक अच्छा मानेगी या मेरा। यदि महिला एक वर्ग होता तो उन्हें वर्तमान सांसद की महिला पत्नी के जाने पर खुश होना था किन्तु ऐसा नहीं होना यह सिद्ध करता है कि परिवार की सहज इकाई को महिला पुरूष वर्ग में विभाजित करके महिला आरक्षण की पृष्ठभूमि बनाना राजनेताओं द्वारा सारे अधिकारों को कुछ परिवारों तक सिमटाने का षड्यंत्र है। यदि कोई आरक्षण ही करना है तो यह होना चाहिये कि किसी भी एक परिवार का एक से अधिक सदस्य संसद या विधान सभा में नहीं जा सकता। इससे कम से कम पन्द्रह हजार परिवारों तक राजनीति का विकेन्द्रीयकरण हो जाता है। इस तरह समान नागरिक संहिता महिलाओं के लिये घातक नहीं है यदि सम्पत्ति तथा परिवार की संरचना में उन्हें समान अधिकार दे दिया जाय।

प्रश्न 4. वर्तमान समय में भारत में आदिवासियों और हरिजनों का आरक्षण देकर उन्हें समाज में समान रूप में स्थापित करने का प्रयास चल रहा है। आपकी समान नागरिक संहिता तो उन्हें फिर से पुराने अंधकूप में ढ़केल देंगी?

उत्तर– उच्च वर्ग के लोगों का सामाजिक आरक्षण हजारों वर्षों से स्थापित था जिसने समाज में अनेक जातियों की योग्यता को बाधित किया। उच्च जातियों के इस सामाजिक आरक्षण के विरूद्ध स्वतंत्रता के बाद संवैधानिक आरक्षण शुरू हुआ जिसने सामाजिक आरक्षण को कमजोर किया और निम्न वर्ग को ऊपर उठाने में सहायता की। किन्तु इस आरक्षण ने जाति व्यवस्था को जातिवाद में बदल दिया जो काफी घातक सिद्ध हुआ। सन् 1947 में जाति प्रथा का जो अन्यायी स्वरूप था वह अब जाति विद्वेष का रूप ले चुका है। मेरे विचार में जातीय आरक्षण के स्थान पर जाति प्रथा उन्मूलन का प्रयास अधिक कारगर होता है। आदिवासी शब्द तो वास्तव में अत्यन्त ही घातक है। भारत में आदिवासी शब्द को समाप्त कर देना चाहिये। अछूत या पिछड़े वर्ग का आरक्षण तो तर्क संगत हो सकता है। पिछड़े में ही अति पिछड़ा वर्ग भी बनाया जा सकता है किन्तु आदिवासी मान्यता या आरक्षण स्वयं में समाज के लिये बहुत घातक है। मेरे विचार में यदि श्रम का मूल्य बढ़ जावे तो आदिवासी हरिजन और पिछड़े का आरक्षण अनावश्यक हो सकता है। अधिकांश पिछड़े लोग श्रम प्रधान हैं और उच्च वर्ग के लोग बुद्धि प्रधान। श्रम को महत्व देकर पिछड़ों को आगे लाना संभव है तथा इससे जातिवाद भी समाप्त हो सकता है।

प्रश्न 5. यदि आरक्षण पूरी तरह समाप्त हो गया तो संसद, विधान सभा और शासकीय नौकरियों में अभी जो आदिवासी हरिजन और पिछड़े हैं वे भी नहीं पहुंच सकेंगे और उच्च वर्ग का सब जगह एकाधिकार हो जावेगा?

उत्तर– वर्तमान व्यवस्था के आधार पर तो ऐसा ही होगा किन्तु प्रस्तावित संविधान लागू होने के बाद विधान सभा समाप्त हो जावेगी, संसद महत्वहीन हो जायेगी और सरकारी नौकरियां भी आकर्षक नहीं रहेंगी तब कोई सवर्ण उधर जाने हेतु क्यों प्रयत्न करेंगे? वह उससे अधिक लाभ का प्रयास करेंगे। अतः आपकी चिन्ता अनावश्यक है। श्रम–मूल्य प्रतिस्थापना, शासकीय विभागों को कम करके पांच तक सीमित करना, सम्पत्ति पर कर, कृत्रिम ऊर्जा पर कर, ग्राम स्वराज्य संसद का सुरक्षा निगम के रूप में बदलना आदि संशोधनों के बाद आप स्वयं अनुभव करेंगे कि किसी आरक्षण की आवश्यकता नहीं के बराबर रहेगी।

प्रश्न 6. समान नागरिक संहिता भारत के मुसलमानों के विरूद्ध होगी। यह उनके धर्म के भी विरूद्ध है। मुसलमान उसे क्यों मानेगा? आप उनके चार शादी के धार्मिक अधिकार पर रोक लगावे, यह कितना उचित है?

उत्तर– समान नागरिक संहिता मुसलमानों के विरूद्ध बिल्कुल नहीं है। भारतीय संविधान का किसी शादी विवाह से क्या संबंध है? आप चाहे एक शादी करें या चार या दस। यह तो परिवारिक मामला है, संवैधानिक नहीं। मुसलमान और हिन्दू कितने भी विवाह करने को स्वतंत्र होंगे। मेरा तो यह विश्वास है कि समान नागरिक संहिता में मुसलमानों के विरूद्ध कुछ है ही नहीं। बल्कि गौहत्या का कानून जब पूर्णतः संविधान से हटेगा तब हिन्दू ही इसका अधिक विरोध करेंगे। अब तक समान नागरिक संहिता का जो अर्थ लगाया जा रहा है वह समान आचार संहिता से है जिसका अर्थ है कि हिन्दू यदि एक शादी से बंधा है तो मुसलमान का भी आचरण वहीं हो। किन्तु यदि आचरण संहिता और नागरिक संहिता का फर्क समझ लिया जाये तो मुसलमान बिल्कुल विरोध नहीं करेंगे।

प्रश्न 7. आपने कब्रिस्तान पर भी 2 प्रतिशत कर लगाया है। मुसलमान कैसे सहेगा?

उत्तर– कब्रिस्तान पर लगने वाला कर यदि वहाँ के मुसलमान चंदा कर के दे दें या शासकीय अनुदान में कटौती कर दें तो क्या दिक्कत है? अनुदान सब बराबर लेंगे और टैक्स नहीं देंगे वह संभव नहीं। मन्दिर और धर्मशाला भी तो टैक्स देंगे। फिर मुसलमानों को ही क्यों आपत्ति होगी? एक बार टैक्स लग जावेगा तब अपने आप पता चल जायेगा कि सैकड़ों एकड़ कब्रिस्तान की उन्हें कितनी आवश्यकता है।

प्रश्न 8. आप समानता को किस रूप में स्थापित करना चाहते हैं?

उत्तर– समानता दो प्रकार की है।

1. असमान नागरिकों को समान करने का प्रयत्न।
2. असमान नागरिकों की स्वतंत्रता में समान हस्तक्षेप।

पहले प्रकार की समानता असंभव है। प्राकृतिक रूप से कोई दो व्यक्ति कुल मिलाकर, गुण कर्म, स्वभाव में समान नहीं है। जब व्यक्तियों की क्षमता ही असमान है तो उसके परिणाम भी असमान होंगे। अतः अवसर की समानता असंभव है और कुछ लोग अन्य लोगों में ईर्ष्या भाव जगाकर वर्ग निर्माण करना चाहते हैं जिससे कि समाज में उनकी आवश्यकता बनी रहे और वे निरंतर शासक के समान बिचौलिये बनकर मजा लेते रहे। पहले प्रकार की समानता के प्रयत्न दूसरे प्रकार की समानता के ठीक विपरीत होते हैं। ये प्रयत्न जितने अधिक होंगे उतने ही शासन के अधिक हस्तक्षेप की भूमिका तैयार करेंगे और उतनी ही अधिक अधिकारों की असमानता में वृद्धि करेंगे। समाज में स्थित किसी भी प्रकार की असमानता की अपेक्षा अधिकारों की असमानता अधिक घातक है। दूसरे प्रकार की समानता के यदि प्रयत्न होते हैं तो उसके लिये समान नागरिक संहिता लागू करनी आवश्यक है। इससे इकाई के इकाईगत जीवन में शासकीय हस्तक्षेप के अवसर घटते चले जाते हैं।

प्रश्न 9. समान नागरिक संहिता के लिये संविधान संशोधन की अपेक्षा राष्ट्रवादी विचारों को प्रोत्साहित किया जाय तो क्या हर्ज है?

उत्तर– मैं संविधान संशोधन की बात नहीं कह रहा बल्कि संविधान के उन अंशों को संविधान से निकालने की बात कह रहा हूँ जो जाति, धर्म, भाषा, लिंग के आधार पर वर्ग भेद पैदा करते हैं। राष्ट्रीयता की भावना उचित है और राष्ट्रवाद घातक। राष्ट्रवाद का प्रचार तो आम नागरिक की गुलामी की भावना को मजबूत करने के लिये उभारा जाता है। जिससे हर व्यक्ति के अन्दर उसके व्यक्तित्व के ऊपर नागरिकता हावी हो सके और जिसके परिणाम स्वरूप शासक और शासित की भावना मजबूत होती रहे।

(10) विधायिका और उसका स्वरूप

प्रजातंत्र की यह अनिवार्य शर्त होती है कि वहाँ कानून का शासन हो। यदि कानून का शासन न होकर व्यक्ति या ग्रुप का शासन हो तो वह प्रजातंत्र नहीं हो सकता। कानून का शासन हो इसके लिये सबसे अधिक संवेदनशील मुद्दा है– कानून बनाने वालों के अधिकार। कानून सम्पूर्ण समाज तो बैठकर बना नहीं सकता और यदि कानून कुछ लोग बैठकर बनाने के लिये स्वतंत्र हों तो वह प्रजातंत्र नहीं है। अतः कानून बनाने की प्रक्रिया इतनी जटिल रखनी पड़ती है कि Check And Balance System पूरी तरह सुरक्षित रहे। कानून बनाने में प्रमुख भूमिका निभाने वाली संस्था को विधायिका कहते हैं। प्रजातंत्र में यद्यपि न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के अधिकारों का समन्वय होता है किन्तु चूंकि न्यायपालिका कानून के अनुसार ही न्याय कर सकती है, उसे न्याय करने की स्वतंत्रता नहीं तथा कार्यपालिका भी विधायिका के निर्णय के विपरीत नहीं जा सकती है अतः तीनों अंग त्रिभुज की तीन बराबर भुजाओं के समान होते हुए भी विधायिका आधार भुजा के समान महत्वपूर्ण हो जाती है।

विधायिका के तीन अंग होते हैं।

1. राष्ट्रपति।
2. लोकसभा।
3. राज्यसभा।

कानून बनाने के उद्देश्य से तो लोकसभा ही पर्याप्त होती है किन्तु प्रजातांत्रिक मूल सिद्धांतों के आधार पर राज्यसभा और राष्ट्रपति की आवश्यकता लोकसभा पर अंकुश और समीक्षा हेतु है। इस तरह राष्ट्रपति, लोकसभा और राज्यसभा मिलकर कानून बनाने का दायित्व पूरा करते हैं। लोकसभा मूलतः कानून बनाने वाली इकाई होती है। राज्य सभा लोकसभा के बनाये कानूनों की समीक्षा करती हैं। राष्ट्रपति, कानून निर्माण की प्रक्रिया में सिर्फ औपचारिकता पूरी करता है क्योंकि अन्तिम रूप से उसी के हस्ताक्षर के बाद कोई कानून अस्तित्व में आता है। कानूनों में राज्यसभा और लोकसभा की समान भूमिका होती है जबकि राष्ट्रपति की भूमिका औपचारिकता के अतिरिक्त कुछ नहीं होती। विधायिका द्वारा बनाये हुए कानूनों का परिपालन कार्यपालिका के जिम्में हैं। कार्यपालिका का निर्माण राष्ट्रपति, मंत्रिमंडल तथा कर्मचारियों को मिलाकर होता है जो लोकसभा द्वारा चयनित प्रधान मंत्री द्वारा बनाया जाता है। इस मंत्रिमंडल के ही नियंत्रण में सम्पूर्ण कार्यपालिका काम करती है। राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक अध्यक्ष मात्र होता है। राष्ट्रपति को कार्यपालिका के अधिकार नहीं होते। कर्मचारी वर्ग सीधे राष्ट्रपति से संबद्ध होता है। कर्मचारी वर्ग यद्यपि सीधा मंत्रिमंडल से जुड़ा नहीं होता किन्तु कार्यपालिका के कार्यों में मुख्य भूमिका मंत्रिमंडल की ही होने से कर्मचारी वर्ग भी अप्रत्यक्ष रूप से मंत्रिमंडल से ही जुड़ा होता है। राष्ट्रपति तो कर्मचारी वर्ग का भी प्रतीक स्वरूप ही मुखिया होता है।

संसद और कार्यपालिका पूरी तरह कानून के अनुसार ही कार्य कर सकती हैं, कानून से बाहर नहीं। और कानून संविधान के ही आधार पर बन सकते हैं संविधान के बाहर नहीं। कानून बनाना विधायिका के अधिकार क्षेत्र में है और पालन कराना भी विधायिका द्वारा बनाये गये मंत्रिमण्डल के अधीन। अतः विधायिका का महत्व बहुत अधिक होता है। शासन के तीन अंग है– कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका। भारत के आम नागरिक विधायिका का चुनाव मतदान द्वारा करते हैं जबकि कार्यपालिका और न्यायपालिका का निर्माण विधायिका द्वारा संविधान के अन्तर्गत बनाये गये नियमों के अन्तर्गत होता है। विधायिका में से भी लोकसभा का चुनाव आम लोग प्रत्यक्ष मतदान द्वारा करते हैं तथा राज्यसभा का चुनाव लोकसभा द्वारा ही अप्रत्यक्ष तरीके से। संविधान में संशोधन भी विधायिका ही करती हैं अतः संविधान, कानून, कानूनों का पालन और न्याय तक में आम नागरिकों की सिर्फ एक ही सहभागिता होती है और वह है लोकसभा का चुनाव। चुनाव के बाद बनने वाली लोकसभा और उसके द्वारा समय–समय पर निर्मित अन्य संवैधानिक इकाइयां मिलकर शासक की भूमिका में स्थापित हो जाती हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से मालिक होते हैं। कैसी विडम्बना है कि जो संसद संविधान के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है वहीं संसद संविधान में संशोधन तक के अधिकार रखती है। भरतीय संविधान की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि उसने विधायिका को संविधान संशोधन तक के असीम अधिकार प्रदान कर दिये यहाँ तक कि संविधान की प्रस्तावना और व्यक्ति के मूल अधिकारों तक में। न्यायालयों ने अवश्य ही यदा कदा विधायिका द्वारा संविधान के मूल ढ़ांचे के परिवर्तन में एक अड़ंगा लगाने का असंवैधानिक प्रयास किया किन्तु इस प्रयास से भी न तो विधायिका की तानाशाही पर रोक लगी न ही मूल ढ़ांचा ही आज तक स्पष्ट हुआ। परिणाम हुआ कि विधायिका शासक की भूमिका में स्थापित हो गई और धीरे–धीरे विधायिका ने व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक की सभी इकाइयों के अधिकार अपने में समेट लिये। आम नागरिक वोट देने तक का मालिक और शेष समय में गुलाम हो गया। तराजू के नागरिक के पलड़े पर उसका वोट चढ़ा और दूसरे पलड़े पर विधायिका के अधिकार तो आम नागरिक का पलड़ा ऊपर उठते–उठते गुलामी की सीमा को छूने लगा। जहाँ अधिकार केन्द्रित होते हैं वहाँ भ्रष्टाचार से प्रारंभ होकर जघन्य अपराधों तक के अवसर पैदा होते हैं। अधिकारों के केन्द्रीयकरण का परिणाम हुआ कि विधायिका में पहले भ्रष्टाचार घुसा बाद में अनाचार और दुराचार और अब तो वह सब बढ़ते–बढ़ते सब प्रकार के अपराधों का केन्द्र बन गया। चुनाव से लेकर संसद में कानून बनने तक और कानून बनने से लेकर उसके कार्यान्वयन तक जिस तरह अनैतिक और अपराधिक दृष्टि दिखाई पड़ रही हैं वह सब चिन्ता का विषय है। वर्तमान स्थिति इस तरह की है कि विधायिका की भूमिका को अपराध नियंत्रण में असफल कहना गलत होगा बल्कि यह कहा जा सकता है कि विधायिका अपराध करने में पूर्णतः सफल है।

मैंने नई व्यवस्था के लिये जिस संविधान का प्रस्ताव किया है उसमें निम्न महत्वपूर्ण संशोधन प्रस्तावित है–

1. वर्तमान समय में अधिकारों को दो भागों में विभाजित करके कुछ अधिकार केन्द्र सरकार के पास हैं और कुछ प्रदेश सरकारों को दिये गये हैं। प्रदेश की विधायिका का निर्वाचन या निर्माण और कार्यप्रणाली केन्द्रीय विधायिका के ही समान है। यद्यपि इन दोनों को अपने–अपने विषयों में कानून बनाने की स्वतंत्रता प्राप्त है किन्तु कुल मिलाकर प्रदेश विधायिका के ऊपर केन्द्रीय विधायिका को वरीयता प्राप्त है। दूसरी बात यह भी है कि दोनों की कार्यप्रणाली तथा चुनाव प्रणाली एक समान है एवं दोनों में स्थापित व्यक्ति भी एक ही समान है अतः दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। प्रस्तावित संविधान में प्रदेश सरकार या विधायिका को समाप्त कर दिया गया है। अब अधिकारों का विभाजन करके दो स्पष्ट समूह बनेंगे। एक में सुरक्षा, वित्त, विदेश और न्याय रहेंगे तथा दूसरे में शेष सभी विभाग जो उन्हें नीचे की इकाइयां सौंपें। लोकसभा का चुनाव सीधा होगा और प्रत्यक्ष होगा। दूसरी इकाई का नाम संघ सभा होगा जिसका निर्वाचन क्रमशः ग्राम, जिला और प्रदेश इकाइयां स्वर्ग। लोकसभा और संघ सभा में से किसी को किसी पर वरीयता प्राप्त नहीं होगी। लोकसभा को अधिकार संविधान प्रदत्त होंगे और संघ सभा को प्रदेश सभाओं द्वारा दिये गय अधिकार होंगे।

2. अब तक के संविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचन करने वाली इकाई की क्षमता पर शंका करते हुए यह रोक लगाई है कि यह इकाई किसी भारत से भिन्न देश के व्यक्ति को या पागल को या पैंतीस वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को राष्ट्रपति नहीं चुन सकती। मैंने ये सब प्रतिबन्ध हटाते हुए यह निर्णय संघ सभा पर छोड़ दिया है किवह किसे अपना राष्ट्रपति चुने। परिवारों के मुखिया ग्राम पंचायत चुनेंगे। ग्राम पंचायतें, जिला पंचायत चुनेंगी। जिला पंचायतें, प्रान्त पंचायतें चुनेगी। एक सौ प्रान्त पंचायतें मिलकर 2000 सदस्यों का चयन स्वर्ग जो संघ सभा होगी। ऐसे लोगों पर यह शंका करना कि वे पागल या विदेशी या बालक का चुनाव कर देंगे यह मुझे अनुचित महसूस हुआ। ये लोग राजनेता भी नहीं हैं कि दलीय हित में काम करेंगे। अतः मैंने राष्ट्रपति के निर्वाचन संबंधी सभी शर्तों को हटाकर यह योग्यता संघ सभा के विवेक पर छोड़ दी है।

3. अब तक राष्ट्रपति का चुनाव लोकसभा तथा विधानसभाओं के सदस्य मिलकर करते हैं। चूंकि लोकसभा और विधानसभाओं में राजनेताओं का ही वर्चस्व है तथा राज्यसभा का निर्माण भी यही लोग करते हैं अतः राष्ट्रपति के चुनाव और भूमिका में भी राजनीति छिपी रहती है। मैंने इस चुनाव में प्रक्रिया को बदलते हुए लोकसभा और परिवार सभा; राज्यसभा को इससे बिल्कुल अलग कर दिया है। विधान सभाएं तो रहेंगी ही नहीं। इनके बदले में बनने वाली संघ सभा राष्ट्रपति का चुनाव करेंगी। इस तरह राष्ट्रपति वास्तव में राजनीति को संतुलित करने में समर्थ हो सकेगा।

4. अब तक राज्य सभा में बारह व्यक्ति राष्ट्रपति द्वारा चुने हुए तथा शेष विधानसभाओं द्वारा चुने हुए होते हैं। ये सब राजनैतिक इकाइयों द्वारा चुने हुए होते हैं अतः इनका चरित्र भी राजनेताओं से भिन्न नहीं होता। मैंने पूरी प्रक्रिया बदल दी है। अब जो परिवार सभा होगी उसमें दस लोग राष्ट्रपति द्वारा चुने गये, दो सौ लोग प्रान्तीय सभाओं द्वारा चुने हुए तथा चालीस लोग संघ सभा द्वारा अपने बीच से चुने हुए को मिलाकर दो सौ पचास की होगी। चूंकि राष्ट्रपति भी गैर राजनैतिक प्रणाली से चुना हुआ होगा तथा प्रान्तीय सभा और संघ सभा भी गैर राजनैतिक तरीके से बनेगी अतः परिवार सभा भी पूरी तरह गैर राजनैतिक ही होगी।

5. अब तक लोकसभा क्षेत्रों के परिसीमन में आबादी की समानता को महत्व नहीं दिया गया है। प्रान्त और जिले भी असमान हैं। न इनकी संख्या समान है न ही आबादी में एक रूपता है। मैंने इसमें आबादी के आधार पर एक रूपता बनाने का प्रस्ताव किया है। मेरे प्रस्ताव अनुसार पूरे देश में एक प्रान्त, प्रत्येक प्रान्त में एक सौ जिले, तथा प्रत्येक जिले में एक सौ गांव होंगे। किसी गांव की आबादी न तो पन्द्रह सौ से अधिक होगी न पांच सौ से कम। इस तरह वर्तमान समय में गांव करीब एक हजार का, जिला एक लाख का तथा प्रदेश एक करोड़ आबादी का होगा प्रत्येक लोकसभा बीस जिलों को मिलाकर बनेगी जिसकी अनुमानित आबादी बीस लाख के करीब होगी।

6. अब तक के संविधान के अनुसार लोकसभा का चुनाव सामान्य काल में पांच वर्ष में एक साथ तथा बीच में ही भंग होने पर मध्यावधि चुनाव पांच वर्ष के लिये होगा। राज्य सभा का चुनाव प्रतिवर्ष 20 प्रतिशत सदस्यों का होगा। लोकसभा भंग हो सकती है किन्तु राज्य सभा भंग नहीं हो सकती। इस प्रक्रिया से बार बार चुनाव भी कराने पड़ते हैं तथा लोकसभा अस्थिर बनी रहती है। दूसरी ओर यदि मजबूत लोकसभा हो जाय तो वह पांच वर्ष के लिये ऐसी स्थिर हो जाती है कि बीच में उसे जनता का भय नहीं रहता। कई बार तो ऐसा भी हुआ कि सरकारां ने चार वर्ष तक मनमानी चलाई और अन्तिम वर्ष को चुनाव वर्ष मानकर जनता को अपने पक्ष में करने के हिसाब से काम किये। मैंने पूरी प्रक्रिया बदल दी है। अब लोकसभा के चुनाव प्रतिवर्ष एक सौ क्षेत्रों के होंगे जो प्रत्येक प्रान्त से एक–एक क्षेत्र होगा। लोक सभा भंग नहीं होगी। इससे स्थायित्व तथा अस्थिरता दोनों ही खतरे नहीं रहेंगे। इस संशोधन के द्वारा किसी राजनैतिक दल को सरकार से इस काल्पनिक आधार पर त्यागपत्र या आन्दोलन की हवा नहीं बनानी होगी कि जनता उसके विरूद्ध है। जनता के पक्ष या विपक्ष की हवा का प्रत्यक्ष आकलन प्रतिवर्ष आसानी से हो जायेगा। इस प्रस्ताव में चुनाव आयोग पर भी एकाएक बोझ नहीं पड़ेगा और देश का चुनाव व्यय भी एक साथ नहीं होगा बल्कि चुनाव एक निरंतर चलने वाली सामान्य प्रक्रिया बनकर रह जायगी। परिवार सभा का कार्यकाल मैंने पांच वर्ष निश्चित किया है किन्तु राष्ट्रपति उसे कभी भी भंग करके चुनाव करा सकता है। यदि उसका कार्यकाल दो वर्ष का हो चुका हो। इस तरह परिवार सभा का कार्य भी अधिक सक्षम तरीके से संभव हो सकता है। लोकसभा को पांच वर्ष तक स्थिर करने से एक विशेष क्षति यह भी थी कि चुनावों के बाद कभी–कभी देश की पूरी नीति एक साथ बदलने का खतरा रहता था। विदेशी

सरकारें भी पांच वर्ष में एक बार स्वयं को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सक्रिय कर लेती थीं। अब प्रति वर्ष चुनाव होने से देश की नीति में एकाएक परिवर्तन के खतरे नहीं रहेंगे।

7. वर्तमान संविधान के अनुसार एक बार चुने गये लोकसभा सदस्य की सदस्यता समाप्त करने का कोई अधिकार आम नागरिकों के पास नहीं था। लोकसभा में बहुमत प्राप्त मंत्रिमंडल की सिफारिश पर राष्ट्रपति पूरी लोकसभा को भंग करके नया चुनाव करा सकते हैं। किन्तु किसी एक सदस्य की सदस्यता पर लोकसभा का भी कोई अंकुश नहीं है। पांच वर्ष तक की लोकसभा की सदस्यता निश्चित होने से एक ओर सांसद निरंकुश हो गये दूसरी ओर चुनाव के समय उक्त पद पर जीतने के लिये बहुत भारी प्रयत्न शुरू हुए क्योंकि उक्त पद अत्यन्त महत्व का बन गया। लोकसभा सदस्य का पद इतना महत्व पूर्ण हो गया कि पहले तो इसमें धनवानों ने घुसकर कब्जा किया बाद में उक्त पद प्राप्त करने में अपराधियों की सहायता लेनी शुरू हो गई और अब तो अपराधी स्वयं ही उक्त पद प्राप्त करने लगे हैं। समय समय पर इस संबंध में आवश्यकता महसूस की जाती रही कि संसद को वापस बुलाने का कोई न कोई तरीका होना चाहिये। जयप्रकाश जी ने तो अपने आंदोलन का एक मुद्दा ही वापस बुलाने का अधिकार को बनाया था किन्तु उस समय वे भी कोई तरीका नहीं सुझा सके थे। मैंने प्रस्ताव किया है कि किसी लोकसभा सदस्य के चुनाव क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले बीस जिलों में से न्यूनतम पंद्रह के साठ प्रतिशत सदस्य बैठकर साठ प्रतिशत के बहुमत से प्रस्ताव पारित करते हैं तो उक्त लोकसभा सदस्य की सदस्यता स्वयंमेव समाप्त हो जायगी। इस तरह लोकसभा सदस्य की सदस्यता पर जिला पंचायतों का परोक्ष अंकुश होगा। साथ ही चुनावों में बहुत अधिक धन या शक्ति लगाने की परंपरा समाप्त होगी क्योंकि जीतने के बाद भी पद खतरे में बना रहेगा। मेरे इस प्रस्ताव में लोक सभा सदस्य की महत्ता और चुनावों का भ्रष्टाचार कम हो जायेगा।

अब तक संविधान में यह व्यवस्था है कि संसद सदस्यों के वेतन भत्ते और सुविधाएं संसद ही तय करेंगी। में आज तक नहीं समझ सका कि यह कौन सा प्रजातंत्र है जिसमें कोई भी इकाई जिसे आम नागरिकों से कर वसूलने का अधिकार हो वह अपने भत्ते और सुविधाएं स्वयं निश्चित कर सकती है। अपना वेतन स्वयं तय करने का नियम भयंकर षड्यंत्र का हिस्सा है। किन्तु संसद ने यह अधिकार अपने पास सुरक्षित रखा। इसका भारी दुरुपयोग हुआ। संसद सदस्यों ने न अपने वेतन भत्ते को मंहगाई से जोड़ा और न ही आम नागरिक की क्रय शक्ति या जीवन स्तर से। इन्होंने कभी यह भी चिन्ता नहीं कि देश कितना कर्ज में डूबा है। इन्होंने बड़ी बेरहमी से अपनी सुविधाओं का विस्तार किया। अनेक सांसद अपने दिल्ली स्थित शासकीय निवास भाड़े पर लगाते हैं, टेलीफोन, रेलवे आदि के घपले तो आम बात हैं। सांसद हर मुद्दे पर दो गुटों में बँटकर बहुत झगड़ा करते हैं किन्तु वेतन भत्ते, सुविधा के प्रश्न पर पक्ष और प्रतिपक्ष एक जुट हो जाता है। मुझे याद है कि एक बार भंग होती हुई संसद ने भंग होने के तत्काल पूर्व अपने वेतन भत्ते बढ़ाकर संसद भंग कराई और प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ। मैंने प्रस्ताव किया है कि इस संशोधन में संसद सदस्यों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगे। अब तक की व्याख्या के अनुसार संसद के भीतर किये गये किसी भी आचरण पर न्यायालय विचार नहीं कर सकता। इस प्रावधान का दुरुपयोग करते हुए अनेक सांसद संसद में शक्ति प्रदर्शन किया करते हैं। भारत की प्रमुख समस्याओं का समाधान खोजने के लिये नियुक्त संवैधानिक समिति को संसद कहते हैं। अपेक्षा की जाती है कि संसद में पूरी तरह शान्तिपूर्वक विचार–विमर्श द्वारा हल निकाला जायगा। किन्तु आम तौर पर स्थिति इसके ठीक विपरीत है। संसद में विचार विमर्श लड़ाई झगड़े से होता है और निर्णय बुद्धि की जगह हाथ पैर से। संसदीय कार्यवाही को देखकर प्रजातंत्र से घृणा होने लगती है। यह विडम्बना ही है कि व्यक्ति को कहीं भी अपने मूल अधिकार हनन के विरूद्ध न्यायालय में जाने का अधिकार है। किन्तु संसद भवन के भीतर यदि किसी सांसद के मूल अधिकार का हनन हो, उसे बोलने या अपना मत व्यक्त करने से बल पूर्वक रोक दिया जाय या संसद में किसी सांसद की हत्या भी हो जाय तो न्यायालय कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मेरे विचार में किसी व्यक्ति के मूल अधिकारों के हनन की स्थिति में न्यायालय में जाने के अधिकार पर कोई रोक अनुचित है। सांसद हो जाने मात्र से व्यक्ति के मूल अधिकार समाप्त नहीं हो जाते। अतः मैंने प्रस्तावित संविधान की धारा 63 में यह व्यवस्था की है कि किसी सदस्य को यदि सदन में अपना मत व्यक्त करने या बोलने या अन्य किसी मूल अधिकार से बल पूर्वक अनाधिकृत व्यक्ति द्वारा बाधा उत्पन्न की जाती है तो वह व्यक्ति न्यायालय में जा सकता है। इस एक छोटे से संशोधन मात्र से संसद की पूरी कार्य प्रणाली बदल जायगी। संसद में गंभीर विचार विमर्श शुरू हो सकता है तथा शक्ति प्रयोग की घटनाएं रुक सकती हैं।

प्रश्न 1. भारत में राष्ट्रपतीय प्रणाली की मांग उठ रही है। क्या राष्ट्रपतीय प्रणाली वर्तमान संसदीय प्रणाली का विकल्प नहीं है?

उत्तर– दो प्रकार की शासन प्रणालियॉ हैं–

1. सुराज्य प्रधान
2. स्वराज्य प्रधान।

पहली प्रणाली में शासन मालिक होता है और जनता अनुगामी। दूसरी प्रणाली में जनता मालिक होती है और शासन व्यवस्थापक। संसदीय लोकतंत्र और राष्ट्रपतीय प्रणाली सुराज्य के ही तरीके हैं स्वराज्य के नहीं। सुराज्य प्रणाली में व्यवस्था जितनी ही केन्द्रित होगी उतनी ही सफल होगी। अतः संसदीय प्रजातंत्र की अपेक्षा राष्ट्रपतीय प्रणाली अधिक अच्छी है क्योंकि वह अधिक केन्द्रित है। संसदीय प्रजातंत्र में सुराज्य प्रणाली और स्वराज्य प्रणाली दोनों के दुर्गुण विद्यमान हैं। अतः इसे तो बदलना ही चाहिये। किन्तु मैं तो मूल रूप से स्वराज्य प्रणाली का पक्षधर हैं जिसमें केन्द्रीयकरण का कोई स्थान नहीं है। अतः में संसदीय प्रणाली का कोई विकल्प राष्ट्रपतीय प्रणाली की दिशा में गलत मानता हूँ। में तो मानता हूँ कि संसदीय प्रजातंत्र को अधिक से अधिक विकेन्द्रित कर दिया जाय जिससे न संसद की आवश्यकता रहे न राष्ट्रपति की चूंकि इतना संभव नहीं अतः में अधिकतम विकेन्द्रीयकरण की बात मानकर चल रहा हूँ।

प्रश्न 2. राज्य सभा का उद्देश्य लोकसभा की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने का है। आपने राज्य सभा का चुनाव संघ द्वारा प्रस्तावित किया है। संघसभा पंचायत से बढ़ते–बढ़ते अन्त में कई चरणों के चुनाव के बाद बनती है। संघ सभा की कोई संवैधानिक भूमिका या अधिकार भी नहीं है। नीचे से ऊपर की सभाओं को जो अधिकार और दायित्व दिये जायेंगे वही वे कर सकते हैं। संघ सभा कोई टैक्स भी नहीं लगा सकती। इस सभा के लोगों को राजनीति या संसद का कोई ज्ञान भी नहीं होता। फिर संघ सभा द्वारा चयनित परिवार सभा लोकसभा के कार्यों से कैसे सामंजस्य कर सकेगी?

उत्तर– किसी भी मशीन में चेक नट का नियम यह है कि वह मशीन की चाल से विपरीत दिशा में कसा रहे। यदि चेक नट मशीन की चाल की दिशा में ही कसा रहेगा तो उसका उपयोग व्यर्थ होगा। इसी तरह यदि राज्यसभा का उपयोग लोकसभा पर अंकुश लगाने या उसकी उच्श्रृंखलता पर रोक लगाने के लिए है तो हमें उसके स्वरूप, चयन तथा कार्यप्रणाली में लोकसभा से भिन्न मार्ग चुनना होगा। यदि आठ सौ लोगों की एक लोकसभा हो या उन्हीं आठ सौ को उसी पद्धति से चुनकर दो भाग करके लोकसभा और राज्यसभा नाम दे दिया जाय तो कोई विशेष फर्क नहीं पड़ेगा। हम देख रहे हैं कि जो मुद्दा जिस ढ़ंग से लोकसभा में उठता है उसी ढ़ंग से राज्य सभा में भी उठता है। दोनों में समान प्रकार से पक्ष विपक्ष बने हुए हैं। लोकसभा के हारे हुए लोग राज्य सभा में और राज्यसभा के हारे हुए लोकसभा में आते रहते हैं। राजनेताओं की खाली टीम के लिये राज्यसभा और लोकसभा दो सदन बने हैं। मैंने यह सब देखकर ही राज्य सभा का नाम परिवार सभा किया है तथा उसकी चयन प्रक्रिया पूरी की पूरी क्रमबद्ध कर दी है। वह वर्तमान राजनैतिक प्रणाली से भी दूर रहेगी। इस तरह किसी भी कानून के बनवाने में दो भिन्न इकाईयां होगी जिसमें एक होगी राजनेताओं की लोकसभा तथा दूसरी होगी पंचायतों की परिवार सभा।

प्रश्न 3. यदि लोक सभा की 20 प्रतिशत सीटों के चुनाव प्रतिवर्ष होंगे तो मंत्रिमण्डल कभी स्थायी नहीं रहेगा। प्रतिवर्ष उसमें बदलाव हो सकता है।

उत्तर– स्थायी सरकार और अस्थायी सरकार में दोनों के ही अलग–अलग गुण–दोष हैं। किसी सरकार का स्थायी होना विकास की दृष्टि से उचित है किन्तु अन्याय अत्याचार की दृष्टि से घातक। दूसरी ओर किसी भी सरकार का एकाएक बदलना भी घातक होता है क्योंकि हो सकता है कि एकाएक कई महत्वपूर्ण नीतियॉ बदल जावें। मेरे प्रस्ताव से संभव है कि कोई सरकार लम्बे समय तक चलती रहे। यह भी संभव है कि एक दो वर्षों में ही उसे जनता की भावना का आभास हो जावे। फिर सरकार एकाएक न बदलकर धीरे–धीरे बदलने से नीतियों में कोई भूचाल आने का खतरा नहीं रहेगा। चौथी बात यह भी है कि विपक्षी दल रोज रोज का आन्दोलन नहीं कर सकेंगे या सरकार के त्यागपत्र की मांग नहीं कर सकेंगे। इससे राजनैतिक शान्ति का वातावरण बन सकेगा।

प्रश्न 4. किसी भी लोक सभा सदस्य को उसके क्षेत्र के जिला पंचायत के सदस्य हटा सकते हैं। इससे तो जिला पंचायत की तानाशाही स्थापित हो जायेगी।

उत्तर– यदि ऐसा महसूस होगा तो लोग संसद सदस्य न बनकर जिला पंचायत का चुनाव लड़ेंगे। यदि आप लोकसभा का चुनाव लड़ना जिला पंचायत से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं तो आपको यह खतरा उठाना ही होगा। लोकसभा सदस्यों की वर्तमान स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाना ही चुनाव सुधारों की पहली शुरूआत है। अतः Power to recall को प्रासंगिक मानना चाहिये।

(11) भाषा

अपने मनोभाव और विचार दूसरे व्यक्ति तक ठीक उसी रूप में पहुंचाने के माध्यम को भाषा कहते हैं। यह स्वाभाविक सिद्धान्त है कि भाषा सदा ही श्रोता की होती है वक्ता की नहीं। श्रोता वक्ता के मनोभाव को जिस भाषा में समझ सकता है वैसी ही भाषा के साथ सामंजस्य करना वक्ता की मजबूरी होती है। भाषा दो इकाइयों का इकाईगत मामला होता है। भाषा का वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त किसी तीसरी इकाई से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दुर्भाग्य से इकाइयो के बीच में राज्य आ जाता है। राज्य की यह मजबूरी होती है कि वह अपने स्थायित्व के लिये समाज में वर्ग–विभेद को जीवित रखे। समाज की एकता राज्य के अस्तित्व के लिये खतरा होती है। अतः राज्य या राजनीतिज्ञ समाज में धर्म, जाति, भाषा, लिंग, उम्र, और सम्पन्नता के आधार पर वर्ग–निर्माण करते रहते हैं। स्वतंत्रता के समय भारत को धर्म के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा चुका था तथा तत्काल ही कोई और वर्ग–निर्माण संभव नहीं था। अतः भारत में वर्ग–भेद के उद्देश्य से भाषा को माध्यम बना लिया गया। स्वतंत्रता के पूर्व गुलाम भारत में भाषा की कोई समस्या नहीं थी। सरकारी भाषा अंग्रेजी निश्चित थी किन्तु लोगों के इकाईगत जीवन में शासकीय हस्तक्षेप कम होने से भाषा अंग्रेजी होने के बावजूद सामान्य जीवन पर उसका कोई खास बुरा असर नहीं था। किन्तु स्वतंत्र भारत में जब शासकीय हस्तक्षेप में वृद्धि हुई और सरकारी नौकरियाँ अधिक से अधिक आकर्षक हुईं तब सरकारी सहायता का लाभ उठाने की होड़ मची। सरकारी भाषा अंग्रेजी रहे कि हिन्दी यह महत्वपूर्ण हो गया क्योंकि भाषा के आधार पर नौकरियों में अवसर की उपलब्धता होने लगी। नौकरी का लाभ उठाने की इच्छा रखने वाले उत्तर भारतीयों ने राष्ट्रभाषा के नाम पर हिन्दी का समर्थन और अंग्रेजी का विरोध शुरू कर दिया और दक्षिण भारतीयों ने इस खतरे को भांपकर हिन्दी सीखने के स्थान पर हिन्दी विरोध शुरू कर दिया। राजनीतिज्ञों को ऐसे ध्रुवीकरण से लाभ था ही। सामान्य जनता को इस विवाद से कोई विशेष लेना देना नहीं था किन्तु भाषा को रोजगार, संस्कृति, राष्ट्रीयता आदि बड़े बड़े शब्दों के साथ जोड़ दिया गया। भारतीय संविधान बनाने वालों की मंशा स्पष्ट थी कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी हो। उन्होंने संविधान में यह बात स्पष्ट लिखी भी और अंग्रेजी के प्रयोग को पंद्रह वर्षों की सीमा अवधि तक के लिये सीमित कर दिया लेकिन वहीं परन्तु लगाकर प्रावधान कर दिया कि संसद चाहे तो उक्त अवधि को बढ़ा सकती है, तथा एक आयोग अपनी रिपोर्ट देगा उस अनुसार राष्ट्रपति कार्य करेंगे। में संविधान बनाने वालों के इस ढुलमुल रवैये से ही अधिक परेशान हूँ। जब पंद्रह वर्ष तय कर दिये तब संसद, आयोग, समिति राष्ट्रपति आदि को बीच में घुसाने की जरूरत क्या थी? यदि संसद आवश्यक ही समझती तो संविधान संशोधन का अधिकार तो उसके पास था ही। किन्तु संविधान में इस तरह के अनेक 'किन्तु, परन्तु' लगाकर विवाद की जड़ें बो दी गईं और यही जड़ें कालान्तर में पनप कर विषाद बन गई। जिन लोगों का स्वार्थ हिन्दी के प्रयोग से टकरा रहा था उन्होंने संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत ही अपने प्रयास तेज कर दिये और हिन्दी समर्थक और हिन्दी विरोधी दो वर्ग तैयार कर दिये। इसी बीच नेहरू जी ने भाषावार प्रान्त रचना का नया कदम उठा लिया और पूरे भारत में भाषा के आधार पर प्रान्तों का विभाजन हो गया। जिन्ना ने भारत को धर्म के आधार पर बांटा था और नेहरू जी ने भाषा के आधार पर बांट दिया। भारत की एक सम्पर्क भाषा अंग्रेजी थी उसके स्थान पर हिन्दी न आकर अनेक क्षेत्रीय भाषाएँ खड़ी कर दी गईं। आबादी या क्षेत्रफल के आधार पर तो प्राप्तों के विभाजन का औचित्य समझमें आता है। किन्तु, भाषा के आधार पर प्रान्तों की सीमाएं बने यह एक बेतुकी बात की गई। प्रत्येक इकाई को अपने इकाईगत व्यवहार में अपनी भाषा चुनने का पूरा अधिकार है किन्तु जब उनका सम्बन्ध किसी अन्य इकाई से आता है तब वे दोनों इकाइयां अपनी भाषा तय कर लेंगी। किन्हीं इकाइयों के बीच आपसी व्यवहार की भाषा क्या हो यह तय करना राष्ट्र या समाज का काम नहीं। राष्ट्र अपनी शासकीय भाषा नीति बना सकता है क्योंकि वह भी एक स्वतंत्र इकाई है, किन्तु राजकाज के अतिरिक्त अन्य मामलों में व्यक्ति, परिवार, गाँव या प्रान्त अपनी भाषा तय करेंगे। यदि किसी गाँव ने अपनी भाषा मराठी तय की है तो वह उसकी ग्रामीण व्यवस्था की भाषा होगी। गाँव को कोई अधिकार नहीं है कि वह किसी परिवार को अपने पारिवारिक संव्यवहार के लिये कोई भाषा तय करे। किन्तु मैंने देखा कि अनेक हिन्दी भक्तों ने उत्तर भारत में बाजारों और दुकानों के अंग्रेजी नाम पट पोत दिये तो दक्षिण के अंग्रेजी भक्तों ने हिन्दी के विरूद्ध वही किया। लोहिया जी के शिष्यों ने तो बाकायदा अभियान चलाकर ऐसा किया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि वे ऐसा करके व्यक्ति के मूल अधिकार का हनन कर रहे हैं। इस तरह भाषा को विवाद का मुद्दा बना दिया गया। हिन्दी भक्तों की सोच भी बहुत विचित्र है। अटल जी ने संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी में भाषण दिया और हिन्दी प्रेमियों की बहुत वाहवाही लूटी। में नहीं समझता कि उन्होंने कोई अच्छा काम किया। संयुक्त राष्ट्र संघ में वे अपने विचार रखने गये थे। वह वैचारिक सम्मेलन था कोई भाषा सम्मेलन नहीं था। अपनी बात सीधी समझाने और दुभाषियों द्वारा कहने में बहुत अन्तर होता है। वे यह सिद्धान्त भूल गये कि भाषा हमेशा श्रोता की होती है, वक्ता की नहीं। यदि कोई श्रोता हमारी भाषा नहीं जानता है तो उसे इशारे से भी समझाना पड़ता है। किन्तु अटल जी ने अनदेखी करके अपनी भाषा स्वयं तय की जबकि भाषा श्रोताओं के आधार पर तय करनी चाहिये थी। मैं सरगुजा जिले की पदयात्रा पर गया तो बिहार से सटे क्षेत्रों में बिहारी, सरगुजा के दक्षिणी भाग में सरगुजिहा तथा शहरों में हिन्दी में विचार रखे क्योंकि श्रोताओं के आधार पर ही भाषा तय करनी थी। में समझता हूँ कि हिन्दीभाषियों ने भी अंग्रेजी हटाओ के नाम पर अनावश्यक विवाद पैदा करने की कोशिश की। अब धीरे–धीरे भाषा के विवाद समाप्त हो रहे हैं। सिनेमा ने हिन्दी स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी तीव्र गति से बढ़ी है तथा कालान्तर में अपने आप स्थापित हो जायगी। मैंने प्रस्तावित संविधान में व्यवस्था की है कि भारत सरकार की कामकाज की भाषा हिन्दी होगी। संसद यदि चाहे तो हिन्दी के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा के प्रयोग की अनुमति दे सकती है। संसद में कोई सदस्य किसी भाषा में बोल सकता है किन्तु उसका अनुवाद नहीं होगा। अर्थात् संसद सदस्य को हिन्दी या दूसरी निश्चित की गई भाषा

तक सीमित रहना होगा। विदेशों से पत्र व्यवहार किसी भाषा में हो सकता है। सरकारी काम काज के अतिरिक्त सबको अपनी–अपनी भाषा चुनने का अधिकार होगा। इस तरह हिन्दी राजभाषा हो जायगी। भाषा को भारतीय संस्कृति राष्ट्रभाषा आदि शब्दों से मुक्ति मिल जायगी।

प्रश्न 1. संसद में दो के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा के अनुवाद की व्यवस्था नहीं होगी। तब उसके बोलने का क्या उपयोग होगा?

उत्तर– संसद में प्रत्येक सांसद के अनुवाद की व्यवस्था हो उस पर भारी भरकम खर्च किया जाय और वह खर्च आम जनता से वसूला जाय यह गलत है। संसद के खर्च की एक सीमा होनी चाहिये। भाषा के नाम पर इस तरह खर्च करना संभव नहीं। अतः सांसद को हिन्दी सीखनी चाहिये। न सीख सके तो दूसरी भाषा का प्रयोग करें। वह भी न कर सके तो लिखित अनुवाद सदस्यों में वितरित करे दे और वह भी संभव न हो तो स्वयं खर्च की व्यवस्था करे या संसद सदस्य न बने। लेकिन सुरक्षा और न्याय जैसे अनिवार्य खर्चों में कटौती करके सदस्यों की भाषा सम्बन्धी इच्छा पूर्ति पर खर्च करना उचित नहीं है।

प्रश्न 2. आपने हिन्दी के अतिरिक्त कोई एक अन्य भाषा चुनने का अधिकार संसद को दिया है। यदि उन्होंने कोई विदेशी भाषा चुन ली तब क्या होगा?

उत्तर– संसद अपनी भाषा चुनने के लिये स्वतंत्र है। संसद आपके काम काज की भाषा में हस्तक्षेप नहीं कर सकती और आप भी संसद की काम काज की भाषा में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। भाषा को स्वदेशी और विरोधी कहना गलत है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। इससे आगे भाषा को भावना के साथ जोड़ना अनावश्यक है।

(12) विदेश

व्यक्ति व्यवस्था की पहली इकाई होता है और समाज अन्तिम। ये दोनों मूल इकाइयां होती हैं। परिवार, गाँव, जिला, प्रान्त आदि इकाइयां इन दोनों के बीच व्यवस्था की होती है। समाज का प्रतिनिधित्व विश्व करता है। विश्व की कोई निश्चित और अधिकार सम्पन्न व्यवस्था अब तक नहीं बन सकी है। अतः राष्ट्र ही अन्तिम इकाई के रूप में स्थापित है। जब तक विश्व व्यवस्था और विश्व–सरकार नहीं बनती तब तक के लिये राष्ट्र की सीमाएँ अन्तिम सीमाएँ होती है तथा राष्ट्र की सीमाओं के बाहर की व्यवस्था, भूमि, रहन–सहन या अन्य सबको विदेश और विदेशी कहते हैं। यद्यपि राष्ट्र अन्तिम इकाई है, किन्तु राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से बिल्कुल अलग थलग नहीं रह सकता। अनेक मामलों में बाहरी राष्ट्रों से कुछ न कुछ संबंध जुड़ता ही है। अतः प्रत्येक राष्ट्र के विदेशों से संबंध होते हैं। विश्व–व्यवस्था के अभाव के कारण ही व्यक्ति के मूल अधिकारों की अन्तिम सीमा राष्ट्र तक होती है। राष्ट्र के भीतर तक ही वह व्यक्ति रहता है और बाहर जाते ही व्यक्ति समाप्त होकर सिर्फ नागरिक रह जाता है। भले ही राष्ट्र व्यवस्था की अन्तिम इकाई है, किन्तु अन्ततोगत्वा उसे विश्व व्यवस्था में विलीन होना ही है। अतः राष्ट्र को अपनी नीतियाँ बनाते समय विश्व–व्यवस्था के संभावित प्रारूप के साथ तालमेल बनाना चाहिये। राष्ट्र को कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिये जो विश्व व्यवस्था में बाधक सिद्ध हो। इसी प्रकार भारत की भी विदेश नीति होनी चाहिये थी। किन्तु भारत भी अन्य देशों के समान ही दूसरे देशों की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करता रहा जिस तरह पाकिस्तान कश्मीर में तथा चीन कम्यूनिष्टों के माध्यम से भारत में विद्रोह को हवा देता रहा, वही भूल भारत भी पाकिस्तान, चीन, भारत, सबने राष्ट्र व्यवस्था को नुकसान पहुँचाया। राष्ट्र को अन्तिम इकाई मानने की भावना जितनी जल्दी खतम हो, राष्ट्र की अमेंद्य दीवारें जितनी जल्दी टूटें उतनी जल्दी विश्व–व्यवस्था स्थापित हो सकती है और जय जगत सार्थक हो सकता है किन्तु राष्ट्रवाद, स्वदेशी आदि शब्द इसमें निरंतर बाधक बनकर राष्ट्र की दीवारों को मजबूत कर रहे हैं। स्वदेशी का अर्थ स्थानीय तो सार्थक हो सकता है किन्तु भारतीय नहीं। अतः विदेश नीति में दो महत्वपूर्ण संवैधानिक संशोधन मैंने प्रस्तावित किये हैं।

1. अब तक संवैधानिक प्रावधान ऐसे हैं कि सरकार को विदेशों से व्यवहार के संबंध में सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यहाँ तक कि युद्ध तक का निर्णय सरकार कर सकती है। सरकार जब जैसा समझौता करे, उसे पूरा अधिकार है। मैंने इसे राष्ट्रवाद से ऊपर विश्व सरकार की ओर थोड़ा सा आगे बढ़ाते हुए प्रावधान किया है कि किसी अन्य देश से विवाद की स्थिति में भारत सरकार तथा संसद पंच फैसला या संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णय को स्वीकार करेंगी। यदि सरकार किसी निर्णय को स्वीकार नहीं करना चाहती है तो उक्त मुद्दे पर संसद, संघ–सभा तथा संविधान–सभा पृथक–पृथक सर्वसम्मति से अस्वीकार भी कर सकती हैं। इस संशोधन द्वारा संयुक्तराष्ट्र संघ या पंच फैसले को अस्वीकार करना बहुत कठिन हो जायगा तथा संसद के साथ संघ–सभा तथा संविधान–सभा की भी सहमति आवश्यक हो जायगी। यह कदम राष्ट्रवाद की दीवारों को कमजोर करेंगे तथा विश्व–व्यवस्था की ओर एक क्रान्तिकारी कदम सिद्ध होगा। अब तक विदेशी शक्तियॉ भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करती रही हैं। विदेशी सामान तस्करी से तथा विदेशी घुसपैठिये छिपकर भारत में प्रवेश कर जाते हैं। सरकार इन्हें रोक नहीं पाती। मैंने स्वयं जाकर कई सीमाओं को देखा है जहॉ भारत की आबादी और अन्य देशों की आबादी इतनी सटी हुई है कि रोकना लगभग असंभव है। मैंने राष्ट्रीय अस्थिरता को रोकने के उद्देश्य से यह प्रावधान किया है कि भारत की सीमाओं का पंद्रह किलोमीटर का भू–भाग सरकार की व्यवस्था तथा स्वामित्व का होगा। इस संशोधन के आधार पर उक्त पंद्रह किलोमीटर के क्षेत्र में या तो कोई नागरिक नहीं रहेंगे या यदि रहेंगे तो उनके कोई मौलिक अधिकार नहीं होंगे। वहाँ न कोई इकाई काम करेंगी न इकाई की व्यवस्था। पूरी तरह सैनिक शासन होगा या केन्द्र सरकार जैसे चाहे वैसे उसकी व्यवस्था करेंगी। इस संशोधन के आधार पर विदेशी हस्तक्षेप पर सक्षम नियंत्रण संभव हो सकता है।

प्रश्न 1. संयुक्त राष्ट्र संघ या पंच फैसले की बात सरकार को अनिवार्य रूप से मानने का प्रावधान घातक होगा?

उत्तर– मैंने ऐसा नहीं किया है। मैंने तो सिर्फ यही किया है कि यदि अस्वीकार करना हो तो संसद अकेले फैसला न लेकर संघ–सभा और संविधान–सभा को भी सहमत करेंगी।

प्रश्न 2. यदि संघ–सभा या संविधान सभा सहमत नहीं हुई तब क्या होगा?

उत्तर– तब संसद उक्त फैसले को मानेगी। अब तक हम गुलाम मानसिकता में जी रहे हैं। हमारी भावना ही ऐसी बन गई है कि संसद में बैठने वाला ही एकमात्र बुद्धिमान और राष्ट्रीय सामाजिक विचारों से ओत–प्रोत होता है। अन्य सब लोग न तो समझ सकते हैं न ही समझने में सक्षम हैं। मेरे विचार में यह बात पूर्णतः निराधार है। संसद में यदि योग्य लोग हैं तो संविधान–सभा और संघ–सभा में उनसे कम योग्य लोग नहीं। संसद इन दोनों सभाओं को सहमत क्यों नहीं कर सकती? मेरे विचार में युद्ध जैसा खतरनाक फैसला सिर्फ राजनीतिज्ञों पर छोड़ना उचित नहीं। अतः संसद के निर्णय पर संघ–सभा और संविधान–सभा का अंकुश उचित समझा गया।

प्रश्न 3. आपने भारतीय सीमा के पंद्रह किमी क्षेत्र को सैनिक शासन के अन्तर्गत कर दिया है। वहाँ बसे लोगों का क्या होगा?

उत्तर– वे लोग अपनी सम्पत्ति का मुआवजा लेकर कहीं भी बस सकते हैं अथवा यदि वहीं रहना हो तो शासकीय सहमति से वहाँ रह सकते हैं। यदि संभव और आवश्यक हुआ तो ऐसे शहरों को तीन तरफ से इतना मजबूत घेरा बनाया जा सकता है कि उक्त शहर सिर्फ भारत की ओर ही खुला रहे और वहाँ भी पंद्रह किलोमीटर छोड़कर। या और भी नियम सोचे जा सकते हैं किन्तु किसी को सिर्फ उतने ही अधिकार हो सकते हैं जो संसद या सरकार उन्हें दे उससे अधिक नहीं।

(13) चुनाव प्रणाली का स्वरूप

किसी भी इकाई की आन्तरिक व्यवस्था के लिये कुछ लोगों को विशेष अधिकार प्रदान करने होते हैं। ऐसे अधिकार प्रदान करने वाले लोगों की संख्या यदि बहुत कम हो तो वे अधिकार पाने वालों का चयन करते हैं किन्तु यदि ऐसे लोग अधिक हैं तो अनौपचारिक चयन प्रक्रिया सफल नहीं होती है बल्कि चुनाव होता है। कोई भी चयन बिना मतदान के भी संभव है किन्तु कोई भी चुनाव बिना मतदान के संभव नहीं यदि उस योग्यता के लिये एक से अधिक उम्मीदवार हों। इस तरह किसी भी व्यवस्था में चुनाव बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। चुनाव की दोषपूर्ण प्रक्रिया व्यवस्था के परिणामों पर गंभीर असर डालती है। अतः चुनाव प्रक्रिया तथा चुनाव सम्पन्न कराने वाली इकाई को सक्षम, विश्वसनीय तथा पारदर्शी होना चाहिये। वर्तमान स्थिति में व्यवस्था की केन्द्रित प्रणाली होने से चुनाव और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। अधिकार केन्द्रित होने से धीरे–धीरे पदों का महत्व बढ़ता चला गया तथा पद ही धन और सम्मान प्राप्ति के प्रमुख आधार बन गये। पद प्राप्ति का आधार बना चुनाव। अतः चुनाव सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गये। धीरे–धीरे चुनावों में धन, पद, शक्ति और अन्त में आपराधिक प्रयास भी शामिल हो गये। संसद और विधान सभाओं में ज्ञान और त्याग अपवाद हो गया। अब तो स्थिति इतनी खराब है कि जिन अपराधियों को जेलों में बन्द होना चाहिये था उनमें से अनेक संसद में या तो स्वयं बैठे हैं या अपने प्रतिनिधि बिठाकर रखे हैं। न्यायालय अपराधियों की पहचान करने में विफल है। इस कारण अपराधियों को चुनावों में धन बल और बाहुबल को सफलता के पूरे अवसर उपलब्ध होने से शराफत चुनावों से परे हो गई। अब चुनाव धनबल और बाहुबल के ही सहारे लड़े और जीते जाते हैं। धनबल और बाहुबल के आधार पर जीतने वाले संसद में बैठकर भारत के आम नागरिकों के भाग्य का निर्णय करते हैं। कल्पना की जा सकती है कि इसके परिणाम कैसे होंगे। यदि अधिकार केन्द्रित सुराज्य प्रणाली को मूल में रखकर भारत की व्यवस्था करनी होती तो में वर्तमान चुनाव प्रणाली के स्थान पर यह प्रस्तावित करता कि लोकसभा की आधी सीटें वर्तमान प्रणाली के आधार पर भरी जानी चाहिये किन्तु चूँकि में व्यवस्था के मूल में ही अधिकार विकेंन्द्रित स्वराज्य प्रणाली को आधार मानकर चल रहा हूँ अतः चुनाव अलाभकर तथा इतने अनाकर्षक हो जायेंगे कि धनबल और बाहुबल अपने आप उनसे दूर हो जायगा। जब चुनावों के माध्यम से कोई बहुत बड़ी ताकत ही हाथ में नहीं आने वाली है तो कोई चुनावों में क्यों धन खर्च करेंगे या प्राणों को खतरे में डालेगा? फिर मैंने यह भी प्रस्ताव किया है कि सांसद को उसके क्षेत्र के जिला पंचायत के सदस्य मिलकर वापस बुला सकते हैं। इस प्रस्ताव से तो चुनावों का महत्व और भी अधिक कम हो जायगा। अतः आज की अपेक्षा एक बहुत कम महत्वपूर्ण संसद और उसके कारण हो चुके बहुत कम महत्वपूर्ण चुनावों की कल्पना के आधार पर ही मैंने चुनाव प्रणाली में बहुत मौलिक परिवर्तन नहीं किये हैं। फिर भी मेरे परिवर्तित सुझाव इस प्रकार हैं–

1. परिवार से लेकर संसद तथा राष्ट्रपति तक के चुनाव, चुनाव आयोग के अधीन होंगे यह व्यवस्था इसीलिये की गई है कि पारदर्शिता और निष्पक्षता बनी रहे।
2. संविधान में उल्लेखित को छोड़कर प्रत्येक इकाई अपनी चुनाव प्रणाली का चयन करने के लिये स्वतंत्र होगी। इस संशोधन के माध्यम से ऊपर वाली इकाई को नीचे वाली इकाई के चुनाव या चुनाव प्रणाली में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। संसद अपने चुनाव की चुनाव प्रणाली तय करके चुनाव आयोग को देगी और परिवार या ग्राम सभा अपने चुनाव की। हो सकता है कि दो परिवार अपने अपने चुनाव दो अलग–अलग तरीकों से सम्पादित करें। इस तरह इकाइयों की इकाईगत स्वतंत्रता मजबूत होगी।
3. किसी भी चुनाव में मतदान गुप्त होगा। प्रत्यक्ष रूप से सर्वसम्मति होने के बाद भी चुनाव आयोग गुप्त मतदान द्वारा सर्वसम्मति या सहमति की पुष्टि करेंगे। इस संशोधन का बहुत व्यापक महत्व है। अब किसी तरह सर्वसम्मति का महत्व नहीं रह जायगा। यदि कुल मिलाकर एक ही उम्मीदवार है तब भी उसे गुप्त मतदान द्वारा सहमति की मुहर लगवानी आवश्यक है। इस संशोधन से परिवारों या गांवों में दादागिरी घटेगी, घुटन समाप्त होगी। हो सकता है कि प्रारंभ में इसके कारण कुछ टूटन हो किन्तु घुटन की अपेक्षा टूटन अल्पकालिक होगी।
4. किसी भी चुनाव में कुल वैध मतदान का आधे से अधिक मत प्राप्त करना आवश्यक होगा। अभी तो स्थिति यह है कि कुल मतों का 10 प्रतिशत मत पाने वाला भी जीत जाता है भले ही 90 प्रतिशत लोग उसे न चाहें। अब वैसा नहीं होगा। यदि अकेला उम्मीदवार भी आधे से कम मत प्राप्त करता है तो उसका चुनाव नहीं हो सकेगा। यदि कई उम्मीदवारों में से कोई आधे से अधिक मत नहीं पा सकते तो ऊपर वाले मत पाने वाले दो सदस्यों के बीच पुनः मतदान कराया जायगा।
5. परिवार के मुखिया का चयन परिवार के सदस्य करेंगे तथा परिवार से ऊपर ग्राम सभा या संसद के चुनावों में परिवार का मुखिया ही मतदान करेंगे जिसका मत उसके परिवार की सदस्य संख्या के आधार पर गिना जायगा। यह संशोधन भी बहुत क्रान्तिकारी है। इस संशोधन से चुनावों में मतदान की गुणवत्ता भी बढ़ेगी तथा खर्च भी घटेगा।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न 1. सर्वसम्मति होने के बाद भी मतदान की अनिवार्यता उचित नहीं।

उत्तर– घुटन और टूटन के बीच मैंने घुटन को अधिक खतरनाक माना है। आज परिवार के टूटने का प्रमुख कारण है घुटन। यदि सर्वसम्मति वास्तविक है तो फिर सब लोग अपनी सहमति पर गुप्त मतदान द्वारा मुहर लगा दें इससे क्या नुकसान है? यदि सर्वसम्मति दबाव या लिहाज से प्राप्त की गई है तो ऐसी सर्वसम्मति चुनाव से अधिक घातक होगी। यदि हम राष्ट्रीय और विश्व स्तर पर स्वराज्य या लोकतंत्र को सफल देखना चाहते हैं तो हमें परिवारों से ही स्वराज्य या लोकतंत्र की शुरूआत करनी होगी। परिवारों में तानाशाही और दुनियां में स्वराज्य सफल नहीं होगा।

प्रश्न 2. परिवार के सभी सदस्य लोकसभा चुनाव में मत नहीं देंगे बल्कि सिर्फ मुखिया ही वोट देगा या उचित नहीं?

उत्तर– वर्तमान प्रणाली में यह उचित नहीं दिखता क्योंकि चुनावों के द्वारा हम अपना शासक चुनते हैं। किन्तु स्वराज्य व्यवस्था में कोई दिक्कत नहीं होगी। हम अपना सांसद चुनते हैं और सांसद राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री चुनते हैं तब तो यह मांग नहीं उठती कि सब लोग वोट दें। मैंने यदि यह व्यवस्था कर दी कि परिवार के लोग मुखिया चुनेंगे और मुखिया सांसद चुनेगा तो क्या बहुत बड़ी दिक्कत आ गई? हम अपने सुरक्षा व्यय में कटौती करके चुनाव खर्च बढ़ाये यह उचित नहीं। चुनाव व्यय की भी एक सीमा आवश्यक है। अतः खर्च कम करने तथा गुणवता बढ़ाने के लिये यह प्रावधान किया गया है। फिर Power to recall तथा आधे से अधिक वोट प्राप्त करने की अनिवार्यता चुनावों में कभी कभी दुबारा मतदान की स्थिति पैदा कर सकती है। अतः कम खर्चीली व्यवस्था आवश्यक प्रतीत हुई।

प्रश्न 3. चुनाव की पद्धति इकाई तय करेंगी। यह पद्धति भी विवादास्पद होगी। चुनाव आयोग को भारी कठिनाई होगी?

उत्तर– संविधान के अन्तर्गत उल्लेखित चुनाव प्रक्रिया तो संसद तय करेंगी। अन्य सामान्य नियम इकाइयां बना सकती हैं। कोई गाँव या परिवार किसी भी तरीके से अपना मुखिया चुन ले इससे क्या फर्क पड़ता है? चुनाव आयोग अपनी नियत तारीख को ऐसे निर्वाचित मुखिया की गुप्त मतदान प्रणाली से परीक्षा लेकर मुहर लगायेगा। यह गुप्त मतदान प्रक्रिया संसद तय करेगी।

(14) आपातकाल

समाज में व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व राज्य का होता है। राज्य को नियंत्रित करने हेतु संविधान होता है और संविधान के अन्तर्गत बनी संसद कानून बनाती है। इस तरह समाज में कानून का शासन माना जाता है। जब राज्य की नीतियों को सामान्य चुनौती हो तो उस समय को सामान्य काल माना जाता है। सामान्य काल में राज्य का प्रयास होता है कि आम नागरिकों के संवैधानिक अधिकारों में किसी प्रकार की कटौती किये बिना ही व्यवस्था ठीक ढ़ंग से चलती रहे किन्तु जब राज्य की नीतियों को सक्षम तरीके से चुनौती होती है तब ऐसे विशेष समय के लिये राज्य को कुछ विशेष अधिकार प्रदान किये जाते हैं। ऐसे समय को आपातकाल कहते हैं। आपातकाल में राज्य को कुछ ऐसे विशेष अधिकार दिये जाते हैं जो सामान्यकाल बनाने में सहायक हों। स्वाभाविक ही है कि आपातकाल में सामान्य नागरिकों के संवैधानिक अधिकारों में आपातकाल की गंभीरता के अनुसार कटौती होती है।

आपातकाल की परिस्थितियाँ तीन प्रकार की होती हैं।

1. जब विदेशी आक्रमण का खतरा हो।
2. जब स्थानीय अपराधी शक्तिशाली हो गये हों।
3. जब आर्थिक असमानता बहुत अधिक हो गई हो।

वर्तमान समय में भारत के समक्ष विदेशी आक्रमण का कोई तात्कालिक खतरा प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु भारत के अनेक क्षेत्रों में स्थानीय अपराधियों का मनोबल बहुत ऊँचा है। भारत के सीमावर्ती राज्य कश्मीर, नागालैण्ड, मणिपुर आदि विदेशियों की सहायता से संचालित गिरोहों से आक्रान्त हैं तो बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश का कुछ भाग तथा अन्य प्रान्तों में भी कहीं कहीं अपराधी तत्व इतना मजबूत है कि आम लोगों का मनोबल पूरी तरह टूटा हुआ है। अनेक स्थानों पर तो प्रशासन पर आम नागरिकों का विश्वास इस तरह उठ गया है कि लोग रिपोर्ट करने या गवाही देने से डरने लगे हैं। इसी तरह आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, बंगाल तथा बिहार प्रान्त में प्रशासन के विरूद्ध सशस्त्र संघर्ष शुरू हो गया है जिसे नक्सलवाद कहते हैं। नक्सलवाद प्रभावित क्षेत्रों की जनता कानून और न्याय के बीच बुरी तरह पिस रहीहै। सरकार बन्दूक के जोर पर कानून का राज्य स्थापित करना चाहती है और नक्सलवादी बन्दूक के जोर पर न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं इस तरह आधे से अधिक भारत आन्तरिक आपातकाल की चपेट में है, भले ही इसकी घोषणा न हुई हो। तीसरे प्रकार का आपातकाल सम्पूर्ण भारत में समान रूप से विद्यमान है। श्रम का मूल्य और महत्व नगण्य है। बुद्धि की उत्पादन क्षमता बहुत तीव्र है। बुद्धि प्रधान लोग श्रम के शोषण में पूरी तरह सफल हैं। धन की उत्पादन क्षमता तो असीमित हैं। बुद्धि और धन ने मिलकर आर्थिक असमानता का ऐसा वीभत्स स्तर बना दिया है कि वह अमानवीय हो गया हैं। धन सम्पन्न और धन हीन के बीच सुख सुविधा, क्षमता तथा सम्पन्नता का अन्तर निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। गरीब आदमी कछुए की रफ्तार से आगे बढ़ रहा है और धनवान व्यक्ति हवाई जहाज की रफ्तार से। स्थिति इतनी खराब है कि धनवान व्यक्ति अपने धन के बल पर राजनीति तथा न्याय को भी प्रभावित कर रहा है। इस तरह सम्पूर्ण भारत में आर्थिक आपातकाल तथा अधिकांश भारत में आन्तरिक सुरक्षा के आपातकाल की परिस्थितियाँ पूरी तरह विद्यमान हैं।

मैंने इस संबंध में निम्न प्रावधान किये हैं–

1. अभी संविधान में यह प्रावधान है कि युद्ध बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में सरकार राष्ट्रपति से आपातकाल घोषित करा सकती है। आपातकाल की घोषणा करते समय सरकार को पूरी स्वतंत्रता है किन्तु एक माह के अन्दर ऐसे आपातकाल को संसद की स्वीकृति मिलनी चाहिये। इस तरह संसद और सरकार को मिलाकर आपातकाल की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। सन् 1975 में श्रीमती गांधी इसी प्रावधान के सहारे तानाशाह बन गई थीं। ऐसा आपातकाल घोषित होने के बाद केन्द्र सरकार को प्रदेश की सभी शक्तियों पर वरीयता प्राप्त हो जायेगी। ऐसे आपातकाल के समय मौलिक अधिकार भी निलंबित रहेंगे। यहाँ तक कि श्रीमती गांधी के आपातकाल के समय कई संसद सदस्यों को भी जेल में बिना कारण बताये बन्द किया गया था तथा न्यायालय में भी यह बहस चल पड़ी थी कि किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बताये सरकार किसी सीमा तक दण्ड दे सकती है। मैंने ऐसे प्रावधान का असंगत मानते हुए यह संशोधन किया है कि आपातकाल का कोई भी आदेश उपराष्ट्रपति तथा मुख्य न्यायधीश की सहमति के बिना नहीं लगाया जा सकता। साथ ही आपातकाल के समय राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा मुख्य न्यायधीश मिलकर ही शासन व्यवस्था के प्रावधान लागू कर सकेंगे। इस तरह मैंने मंत्रिमण्डल के एकपक्षीय अधिकार पर मुख्य न्यायाधीश तथा उपराष्ट्रपति का अंकुश लगा दिया है। साथ ही मैंने प्रावधान किया है कि आपातकाल के समय भी सरकार मूल अधिकारों को समाप्त नहीं कर सकती बल्कि सिर्फ इतना ही कर सकती है कि सम्पत्ति पर 10 प्रतिशत का अतिरिक्त कर लगाकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करे। किन्तु

जबरन भर्ती या विचार अभिव्यक्ति, स्वनिर्णय आदि पर कोई रोक या कटौती नहीं कर सकती। इस तरह मैंने आपातकाल की पैनी धार को भोथरा करने का प्रयास किया है।

2. आंतरिक आपातकाल के संबंध में अब तक संविधान में यह प्रावधान है कि सरकार जब चाहे किसी भी व्यक्ति को बिना तत्काल कारण बताये जेल में बन्द कर सकती है। ऐसे व्यक्ति के जेल में बन्द होने की समीक्षा न्यायाधीशों की टीम तीन माह में करेंगी। संसद को यह अधिकार है कि वह इस तरह निरुद्ध करने की प्रक्रिया में कोई भी संशोधन कर सकती है। इस तरह सरकार को तीन माह तक के लिये तथा संसद को असीमित काल तक किसी व्यक्ति को जेल में रखने के असीमित अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों के लिये न आपातकाल की समीक्षा की आवश्यकता है न ही घोषणा की। ये आपातकालीन और विलक्षण अधिकार तो सरकार और संसद को सामान्यकाल में ही प्राप्त हैं। कौन नहीं जानता कि सरकार या उसके उच्च अधिकारियों ने इन प्रावधानों का कितना दुरुपयोग किया है। बिडम्बना ही है कि ऐसे कठोर प्रावधानों के होते हुए भी अपराधियों के मन में कानून का डर नहीं है और आम आदमी बिना कानून तोड़े भी अधिकारियों से भयभीत है। मैंने उक्त प्रावधान को समाप्त करते हुए व्यवस्था की है कि किसी भी जिले का कलेक्टर, एस. पी. और जिला एवं सत्र न्यायाधीश यदि यह महसूस करते हैं कि उनके जिले में अपराधियों के डर के कारण न्याय बाधित हो रहा है तो ये तीनों मिलकर उक्त जिले में आपातकाल घोषित कर सकते हैं। ऐसे आपातकाल घोषित जिले में गुप्तचर पुलिस को यह अधिकार होगा कि वह किसी व्यक्ति के विरुद्ध जिला व सत्र न्यायालय में गुप्त मुकदमा प्रस्तुत कर सकेगी जिसकी जांच उक्त न्यायालय की गुप्तचर एजेंसी करेंगी तथा तद्नुसार ही उक्त व्यक्ति को सजा दी जा सकेगी। उक्त आदेश की सम्पूर्ण सुनवाई की, एस. पी., कलेक्टर या सरकार को न कोई जानकारी होगी न ही हस्तक्षेप। सम्पूर्ण कार्यवाही बिना अभियुक्त की जानकारी के गुप्त रूप से होगी और यदि न्यायालय आदेश देगा तभी सरकार किसी को निरुद्ध कर सकेगी। कोई व्यक्ति ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील करेंगे तो उच्च न्यायालय की गुप्तचर इकाई पुनः नये सिरे से जांच करके निर्णय करेंगी। इस तरह सरकार संसद तथा सरकारी कर्मचारियों की मनमानी पर भी रोक लगेगी तथा अपराधियों के मन में भी यह भय बनेगा कि उनके अपराधों की गुप्त समीक्षा संभव है। मेरे विचार से इस प्रावधान से एक तरफ तो अपराधियों का मनोबल टूटेगा दूसरी ओर सरकार और उसके अधिकारियों की भी मनमानी रुकेगी।

3. आर्थिक आपातकाल की अब तक बहुत भ्रामक परिभाषा विद्यमान है। अब तक संविधान में ऐसी व्यवस्था है कि यदि राज्य की वित्तीय स्थिति असंतुलित हो जाती है तो राज्य आर्थिक आपातकाल घोषित करके वित्तीय व्यय में कटौती कर सकता है तथा अपने कर्मचारियों के वेतन भत्ते कम कर सकता है या रोक सकता है। मेरे विचार में यह प्रावधान अनावश्यक भी है और अनुचित भी। राज्य को यह अधिकार तो स्वाभाविक रूप से प्राप्त है कि वह कभी भी कोई टैक्स लगा सके, अपने खर्च में कटौती कर सके। राज्य का यह भी स्वाभाविक अधिकार है कि वह अनुबंधित अवधि के बाद वेतन भत्ते में कटौती कर सकता है। संविधान में यह बात अनावश्यक रूप से छुपाई गई है कि राज्य अपने कर्मचारियों का वेतन भत्ता कभी भी कम नहीं कर सकता। यदि मूल्य वृद्धि के आधार पर वेतन बढ़ाया जा सकता है तो मूल्य हास के आधार पर घटाया भी जाना चाहिये। फिर यह भी गलत है आपातकाल में राज्य किये हुए काम का भी वेतन रोक सकता है। मैंने राज्य को आर्थिक स्थिति के आधार पर नहीं बनाया है क्योंकि राज्य राष्ट्र का प्रतिरूप नहीं है बल्कि प्रतिनिधि मात्र है। राज्य अपने आर्थिक संकट के लिये स्वयं ही आपातकाल लगा दे और स्वयं ही वेतन भत्ते रोक दे यह अनुचित है। अतः मैंने आर्थिक आपातकाल को आर्थिक असमानता के साथ जोड़ते हुए प्रावधान किया है कि यदि राज्य महसूस करे कि समाज में आर्थिक असमानता बहुत बढ़ गई है या बढ़ रही है तो राष्ट्रपति डपराष्ट्रपति की सलाह से पूरे देश में आर्थिक आपातकाल की घोषणा कर सकता है। इस घोषणा के अन्तर्गत भारत की सम्पूर्ण चल अचल सम्पत्ति पर 2 प्रतिशत तक आपातकर लगाकर उससे प्राप्त सम्पूर्ण धन भारत के प्रत्येक नागरिक के बीच समान रूप से वितरीत कर दिया जायेगा। यह प्रक्रिया वर्ष में एक बार ही हो सकती है। इस प्रक्रिया से आर्थिक असमानता, चाहे कितनी भी अधिक हो, एक या दो वर्षों में ही नियंत्रित हो सकती है।

प्रश्न 1. युद्ध अथवा सशस्त्र विद्रोह के समय राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति और मुख्य न्यायाधीश विचार करें यह लम्बी प्रक्रिया घातक हो सकती है?

उत्तर– ऐसे संवेदनशील समय में पूरा मंत्रिमण्डल विचार करेंगे तथा यह घातक नहीं होगा यह समझ से परे हैं। युद्ध जैसे निर्णय किसी एक इकाई पर छोड़ना उचित नहीं है। अतः युद्ध जैसे मामलों में उपराष्ट्रपति तथा मुख्य न्यायाधीश को सम्मिलित करना आवश्यक समझा गया।

प्रश्न 2. युद्ध जैसे आपातकाल में भी आम नागरिकों के मूल अधिकार निलंबित नहीं करना खतरनाक हो सकता है। कोई सैनिक ठीक समय पर युद्ध से इन्कार कर दें अथवा कोई नागरिक युद्धकाल में भारत के विरुद्ध अपनी बात करने लगे अथवा युद्धकाल में सैनिकों की कमी हो जाये और नागरिक स्वेच्छा से युद्ध हेतु न तैयार हो तब क्या स्थिति होगी?

उत्तर– आपने स्थिति का एक पक्ष ही रखा है। युद्धकाल में भी यदि नागरिक के जीने के, अभिव्यक्ति के तथा स्व–निर्णय के अधिकार पर कोई अंकुश लगा तो वह घातक होगा। इससे राज्य मजबूत हो जायेगा। युद्ध का निर्णय भारत के आम नागरिकों को नहीं है बल्कि राज्य का है। यदि राज्य का निर्णय गलत है तो आम नागरिकों का यह अधिकार है कि वे उसका विरोध करें भले ही वह युद्धकाल ही क्यों न हो। आम नागरिकों पर युद्ध थोपना और युद्धकाल में नागरिकों के मूल अधिकार निलंबित करने का अधिकार राजनेताओं के पास से हटा दिया जाये तो दुनियां में होने वाले युद्धों में से आधे से अधिक युद्ध नहीं होंगे। फिर हमने आपातकालमें सम्पत्ति पर अधिकतम 10 प्रतिशत तक

कर लगाने के अधिकार तो राज्य को दे ही दिये हैं। इससे अधिक अधिकार देना घातक होगा। यह बात आवश्यक है कि सैनिक का मूल अधिकार नहीं होता क्योंकि वह तो राज्य के साथ किसी अनुबंध के अन्तर्गत काम कर रहा है। सैनिक अपना अनुबंध तोड़ नहीं सकता।

प्रश्न 3. आन्तरिक आपातकाल की स्थिति में कलेक्टर, एस. पी. और जिला न्यायाधीश मिलकर तानाशाही ही कर सकते हैं क्योंकि अभियुक्त को अपना बचाव पक्ष रखने का अवसर दिये बिना ही सजा दे दी गई है?

उत्तर– तानाशाही की परिभाषा यह होती है कि उक्त अवधि में किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा अपने अधिकारों में असीमित वृद्धि कर ली जाती है। मेरे प्रस्ताव में ये तीनों अधिकारी मिलकर अपने अधिकार नहीं बढ़ा रहे बल्कि सामान्य पुलिस और सामान्य न्यायालय के अधिकार गुप्तचर पुलिस और गुप्तचर न्यायालय को स्थानान्तरित कर रहे हैं। संभव है कि आपातकाल की घोषणा करने वाला अधिकारी ही असकी चपेट में आ जावें। अतः तानाशाही की शंका बिल्कुल व्यर्थ है। दूसरी बात यह भी है कि वर्तमान संविधान के अन्तर्गत तो बिना आपातकाल घोषित किये ही सामान्यकाल में भी तथा बिना न्यायालय की जांच के ही कलेक्टर और एस. पी. मिलकर किसी भी व्यक्ति को पहले जेल में डाल सकते हैं और उसके बाद समीक्षा होगी। मैं समझता हूँ कि वर्तमान अधिकार तानाशाही पूर्ण तथा घातक हैं क्योंकि इनमें राजनेताओं का भी हस्तक्षेप संभव है। मेरे प्रस्ताव में राज्य या राज्य की कोई इकाई हस्तक्षेप नहीं कर सकती क्योंकि सामान्य पुलिस और सामान्य न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से इसे बाहर रखा गया है।

(15) संविधान संशोधन

सृष्टि के प्रारम्भ से ही समाज में सामाजिक और समाज विरोधी प्रवृतियों के बीच संघर्ष चलता रहा है। इस संघर्ष में समाज विरोधी तत्वों को नियंत्रित करने का दायित्व संभालने वाली इकाई को शासन या राज्य कहते हैं। राज्य का नियंत्रित करने की आवश्यकता होती है किन्तु राज्य को नियंत्रित करने की कोई और इकाई अब तक नहीं बन सकी हैं तथा राज्य की स्वतंत्र अधिकारिता की कोई न कोई सीमा अवश्य ही होनी चाहिये। अतः राज्य के अधिकारों की सीमा निर्धारित करने वाले प्रावधान को संविधान कहते हैं। दुनियां के अधिकांश देशों में संविधान बने हुए हैं। प्रजातांत्रिक देशों में तो संविधान अनिवार्य रूप से होता ही है। चूँकि संविधान जनता द्वारा राज्य की सीमाओं को बताने वाला दस्तावेज होता है अतः स्वाभाविक ही है कि राज्य या संसद संविधान के अनुसार ही कार्य करने के लिये बाध्य है तथा संसद को संविधान के अन्तर्गत रहना अनिवार्य होता है। इस तरह किसी भी व्यवस्था में संविधान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। चूँकि संविधान जनता द्वारा निर्मित या स्वीकृत दस्तावेज होता है अतः आवश्यक है कि उसमें संशोधन या परिवर्तन भी जनता के द्वारा ही किया जाये। किन्तु संविधान में कई प्रकार के संशाधनों की आवश्यकता पड़ती रहती है तथा हर बार जनमत संग्रह की प्रक्रिया अपनाना खर्चीला तथा कठिन कार्य होता है। अतः संविधान संशोधन हेतु कोई सरल प्रक्रिया भी संविधान में बनाई जाती है। इस प्रक्रिया में :–

तीनों बातों का ध्यान आवश्यक होता हैः–

1. संविधान संशोधन की प्रक्रिया इतनी कठिन और जटिल न हो कि संविधान संशोधन संभव ही न हो तथा यथास्थिति ही निरंतर चलती रहे।
2. संविधान संशोधन इतना आसान न हो कि बिना जरूरत के या बिना ठीक से विचार किये ही बार–बार संविधान संशोधन होता रहे।
3. संविधान संशोधन की प्रक्रिया इतनी मजबूत हो कि संविधान के आधार पर चलने वाली इकाइयां विधायिक, न्यायपालिका और कार्यपालिका अपने हित में उसका दुरुपयोग न कर सकें। भारत में वर्तमान संविधान में पहली दो बातों का तो
   ध्यान रखा गया है किन्तु तीसरी बात को बिल्कुल ही भुला दिया गया। जिस विधायिका पर नियंत्रण रखने के लिये संविधान की आवश्यकता होती है उसी विधायिका को संविधान में संशोधन के अधिकार देना एक बहुत बड़ी भूल मानी जायेगी। किसी भी इकाई के अन्तर्गत कार्य करने वाली इकाई को उस इकाई में ही परिवर्तन संशोधन का अधिकार देना कितना उचित है यह बिल्कुल सामान्य सी बात है। किन्तु भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस सामान्य सिद्धांत का भी ध्यान नहीं रखा। यदि और कुछ संभव नहीं था तो कम से कम इतना तो अवश्य ही प्रावधान करना था कि संविधान संशोधन जैसे कार्य में विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का समान समन्वय हो। किन्तु दुर्भाग्य ही है कि विधायिका को संविधान संशोधन के असीमित अधिकार दे दिये गये। हद ही हो गई कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान के मूल अधिकारों वाले प्रावधानों को भी सुरक्षित नहीं रखा तथा संसद को उनके भी परिवर्तन का अधिकार प्रदान कर दिया। या तो वे लोग मूल अधिकार का अर्थ ही नहीं समझ सके या उनके पास कोई और विकल्प ही न रहा होगा। इस तरह भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान में यह व्यवस्था कर दी कि संसद दो तिहाई बहुमत से संविधान की किसी भी धारा में परिवर्तन, संशोधन या निरसन कर सकती है। यहाँ तक कि संसद के ऐसे कार्य के विरुद्ध किसी न्यायालय को सुनवाई करने का कोई अधिकार नहीं होगा। इस तरह संविधान के ऊपर संसद हो गई और संसद में राजनेताओं का ही एकाधिकार होता है। अतः स्वाभाविक ही था कि राजनेता एक ग्रुप के रूप में संविधान के ऊपर हो गये अर्थात् तानाशाह बन गये। समय–समय पर राजनेताओं ने इस प्रावधान का खुलकर दुरुपयोग किया। संविधान में अंग्रेजी को या आरक्षण को जारी रखने की जो समय सीमा निश्चित थी उसे अपने राजनैतिक हितों के लिये मनमाने रूप में आज तक संशोधित किया जाता रहा। इसी तरह श्रीमती गांधी का चुनाव जब अवैध हो गया तो संसद ने संविधान में कई संशोधन करके श्रीमती गांधी को तानाशाह बनने का मार्ग प्रशस्त किया। यहाँ तक कि उक्त कार्यकाल में मूल अधिकार तथा उद्देश्यिका तक में फेरबदल कर दिया गया। राजीव गांधी जी के कार्यकाल में भी शाहबानों प्रकरण में जब न्यायालय तक ने पूरे मामले को अवैधानिक घोषित कर दिया तो राजनेताओं ने अपने तुच्छ स्वार्थों के लिये सम्पूर्ण असंवैधानिक कार्य को संविधान द्वारा ही संवैधानिक बना दिया। अभी–अभी राजनेताओं ने अपनी पारिवारिक बपौती को और मजबूत बनाने के उद्देश्य से महिला आरक्षण का संशोधन भी पारित कराने का प्रयास शुरू किया है। इस तरह संविधान संशोधन के असीमित अधिकार संसद के पास रहने का भरपूर लाभ राजनेताओं ने उठाया है। मैंने प्रस्तावित संविधान में इस बात की आवश्यकता महसूस की कि संविधान संशोधन की एक अलग प्रक्रिया होनी चाहिये।

मेरा सुझाव इस प्रकार है–

1. संविधान की वर्तमान प्रक्रिया यथावत रहेगी किन्तु संसद ऐसे संविधान में सिर्फ प्रस्तावक होगी, निर्णायक नहीं। संसद द्वारा पारित प्रस्ताव संविधान सभा में स्वीकृति के लिये जायेगा।

2. वर्तमान समय में कोई संविधान सभा अस्तित्व में नहीं है किन्तु मैंने एक संविधान सभा का प्रस्ताव किया है। इस प्रस्तावित संविधान सभा में कुल एक सौ दस सदस्य होंगे। इसमें देश के सौ प्रान्तों में से प्रत्येक प्रान्त से डिग्री कालेज या ऊपर के कालेज का एक प्राचार्य तथा अन्य दस चयनित सदस्य होंगे जो पूर्व राष्ट्रपति, पूर्व प्रधान मंत्री तथा पूर्व मुख्य न्यायाधीश से कम योग्यता के नहीं होंगे। डिग्री कालेज के प्राचार्य का चुनाव उस क्षेत्र के कालेजों के प्रोफेसर्स मिलकर करेंगे। उक्त पद को प्राचार्य तक ही सीमित इसीलिये किया गया है कि डिग्री कालेज तक के आचार्य तथा प्राचार्यो को संवैधानिक रूप से राजनीति में सक्रिय भागीदारी से प्रतिबंधित किया गया है। यद्यपि वे शासकीय सेवक नहीं हैं। इससे संविधान सभा राजनेताओं की घुसपैठ से सुरक्षित रहेंगी।
3. मैंने एक प्रस्ताव यह भी किया है कि यदि मूल अधिकार में कोई संशोधन करना हो तो संसद तथा संविधान सभा के प्रस्ताव पर जनमत संग्रह कराना अनिवार्य होगा।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न 1. यह तो सही है कि संविधान संशोधन हेतु संसद को ही अधिकृत करना गलत था। किन्तु संविधान सभा का आपने जो प्रारूप रखा है उसमें सिर्फ प्राचार्य ही क्यों? सामाजिक कार्यकर्त्ता या न्यायाधीश या वकीलों की संविधान सभा क्यों नहीं?

उत्तर– संविधान सभा बनाने का एक ही उद्देश्य है कि उसमें राजनीतिज्ञों से भिन्न लोग ही आ सकें। यदि राजनेताओं की ही टीम रही तो चाहे दस ऐसी टीमें बना दी जावे, परिणामों में अधिक अन्तर नहीं होगा। प्राचार्यों को अपने सम्पूर्ण सेवा काल में राजनीति में भाग लेने पर प्रतिबन्ध रहेगा। उनके मतदाता भी राजनीति में भाग नहीं ले सकेंगे। डिग्री कालेज या उससे ऊपर के कालेज के प्राचार्यों के अतिरिक्त कोई ऐसा वर्ग नहीं है जिसे राजनीति का ज्ञान तो हो किन्तु भागीदारी न हो। क्या वकील या सामाजिक कार्यकर्त्ता राजनीति से पृथक रहने हेतु तैयार होंगे? क्या मतदाताओं की कोई ऐसी टीम बन सकती है जो घोषित रूप से राजनीति निरपेक्ष हो और रहे भी? स्पष्ट है कि नहीं। यदि डाक्टर को रखा जायेगा तो स्पष्ट है कि उन्हें राजनीति की जानकारी नहीं है तथा न्यायाधीश वर्ग भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि किसी भी संविधान संशोधन को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। इस तरह मैंने बहुत सोंच समझकर संविधान सभा को प्राचार्यों तक सीमित किया है।

प्रश्न 2. आप कैसे महसूस करते हैं कि प्राचार्यों की टीम राजनेताओं की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने में सफल हो सकेंगी?

उत्तर– अब तक संसद के दोनों सदन राजनेताओं के ही अधिकार में है। राजनैतिक दलों के लोग दलीय आधार पर दोनों सदनों में घूमते फिरते रहते हैं। नये प्रस्तावों में लोकसभा तो राजनेताओं का अखाड़ा हो जायेगी किन्तु राज्यसभा; परिवार सभा बिल्कुल भिन्न तरीके से चुनी जायेगी। उसमें राजनेताओं का प्रवेश नगण्य ही हो सकेगा। इस तरह राजनेताओं की स्वेच्छाचारिता पर पहला अंकुश लगेगा। यदि मान लें कि परिवार सभा में भी कुछ राजनेता पहुंच गये तो संविधान सभा में तो राजनेताओं की पहुंच नगण्य ही हो पायेंगी।

प्रश्न 3. आपने प्राचार्यों की टीम को इतना बड़ा काम सौंप दिया है तो क्या वे तानाशाह नहीं बन जायेंगे।

उत्तर– लगता है कि तानाशाही शब्द का अर्थ ही आप नहीं जानते। तानाशाह का अर्थ यह होता है कि एक ही व्यक्ति या टीम के पास विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के सर्वोच्च अधिकार इकट्ठे हो जावें। ये बेचारे प्राचार्य तो मात्र समीक्षा ही करेंगे। इनके पास विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में से किसी एक भी इकाई के अधिकार नहीं होंगे। वर्ष में एकाध बार संविधान संशोधन का प्रस्ताव आता है जिसकी समीक्षा मात्र इनको करनी है।

(16) अन्य

समाज के सुव्यवस्थित संचालन के लिये अपराधियों के मन में समाज का भय होता है। भय की उत्पत्ति दण्ड के प्रावधानों से होती है। दण्ड का स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि वह अपराध के महत्व के समकक्ष कठोर भी हो तथा दण्ड अमानवीय भी न हो। स्पष्ट है कि कोई भी दण्ड मानवीय हो ही नहीं सकता क्योंकि दण्ड स्वयं में मूल अधिकारों का हनन मात्र होता है। किन्तु दण्ड ऐसा तो हो सकता है कि वह आवश्यकतानुसार कठोरता को कायम रखते हुए विद्यमान मानवीय विकल्पों में से एक का चयन हो। हजारों वर्षों से फांसी की सजा विद्यमान है। हाल के सौ दो सौ वर्षो से सम्पूर्ण विश्व में यह मांग उठी है कि फाँसी की सजा को समाप्त कर दिया जाय क्योंकि वह अमानवीय है। दूसरी ओर अब भी अधिकांश लोग यह मानते हैं कि फांसी की सजा को और अधिक लागू किया जाये क्योंकि जब से फांसी कम हुई है तब से हत्या जैसे जघन्य अपराध तीव्र गति से बढ़े हैं। दुनियां के अधिकांश देशों में फांसी का प्रावधान भी है किन्तु फांसी का उपयोग अपवादस्वरूप ही होता है। फांसी के पक्ष विपक्ष में निरंतर बहस जारी है। मैंने संविधान के प्रस्तावित प्रारूप में इस बात पर गंभीरता से सोचा है। मेरे विचार से फांसी की सजा को समाप्त करना उचित नहीं है किन्तु फांसी की सजा का एक ऐसा विकल्प खोजा जा सकता है जो फांसी की सजा के समकक्ष ही कष्ट कारक हो। मैंने प्रस्ताव किया है कि फांसी की सजा प्राप्त व्यक्ति यदि जीवित अवस्था में दोनों आंख देकर जीवित रहना चाहे तो उसे तब तक जमानत पर जीवित रहने की छूट दी जा सकती है जब तक वह उन शर्तों को माने जो कोर्ट तय करें। मैंने इस संबंध में बहुत गंभीरता से और बहुत सोचा तथा चर्चा की। चर्चा के बाद मैं संतुष्ट हूँ कि मेरा प्रस्ताव ठीक है।

प्रश्न 1. किसी व्यक्ति की दोनों आंखे निकाल कर उसे अंधा बनकर रहने को मजबूर करना कितना मानवीय है?

उत्तर– प्रश्न सिर्फ मानवीय अमानवीय का नहीं है बल्कि फांसी के विकल्प का है। मेरे विचार से तो किसी व्यक्ति की हत्या और उसके जीवित अन्धेपन में से कौन अधिक अमानवीय है यह तय करना बहुत कठिन है। फिर, एक बात यह भी तो है कि किसी व्यक्ति को कोई आदेश देने के साथ–साथ यदि कोई समकक्ष विकल्प दिया जाता है तथा दोनों में कोई एक विकल्प चुनना उसकी मर्जी पर है तो वह विकल्प अमानवीय हो ही नहीं सकता चाहे वह कितना भी अमानवीय क्यों न हो। कल्पना करिये कि किसी व्यक्ति को फांसी की सजा हुई। वह व्यक्ति एक दो माह अन्धी अवस्था में भी जीवित रहकर लड़की का विवाह या कोई अन्य कार्य पूरा करना चाहता है। आप बताइये कि उसे कुछ दिन उस की इच्छानुसार जीवित रहने की छूट देना अमानवीय है या फाँसी? वह व्यक्ति तो जमानत पर है। यदि वह शर्त तोड़ता है तो फांसी या स्वयं निवेदन करता है तब फांसी। फांसी की सजा तो कायम है ही।

प्रश्न 2. यदि किसी अपराधी ने अंधा रहकर अपराध किया तो दोषी कौन होगा?

उत्तर– वह व्यक्ति कुछ शर्तों पर छूटेगा। भरसक तो अंधा व्यक्ति अपराध कर ही नहीं सकेगा और यदि करेगा तो उसे सजा मिलेगी। मेरे विचार में यह सुझाव बहुत उपयुक्त है।

परिवार नियोजन

दुनियां में आबादी निरंतर बढ़ रही है। संतान पैदा करना व्यक्ति का मूल अधिकार है किन्तु चूंकि उक्त संतान पैदा होते ही व्यक्ति की सम्पत्ति न रहकर स्वयं में एक इकाई बन जाता है, अतः संतान का जन्म लेना व्यक्ति का मूल अधिकार होते हुए भी सामाजिक संबंधों से जुड़ा हुआ है। इस तरह संतान उत्पत्ति का मामला समवर्ती सूची में माना जाना चाहिए। सम्पूर्ण विश्व में परिवार या गांव जैसी छोटी इकाइयां जनसंख्या वृद्धि से चिन्तित नहीं है किन्तु राष्ट्र या विश्व व्यवस्था इस समस्या से बहुत चिन्तित है। अब तक आबादी वृद्धि पर रोक के सभी स्वैच्छिक उपाय अब तक नहीं किये गये हैं क्योंकि वह व्यक्ति का मूल अधिकार है। चीन जैसे देशों ने तो कानूनी प्रतिबंध लगाये भी हैं। किन्तु भारत इसमें अब तक बचता रहा है। मैंने भी इस संबंध में बहुत विचार करते हुए यह प्रस्ताव किया है कि संसद उन बच्चों के माता पिता को शासन द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं या धन को रोक सकेगी जिसके संसद की बनाई सीमा से अधिक संतान होंगी। यद्यपि यह व्यवस्था बिल्कुल लचर दिखाई देती है, किन्तु मुझे ऐसा महसूस होता है कि इससे अधिक कठोर प्रावधान करना उचित नहीं होगा। यदि कोई कठोर प्रावधान बनाना ही होगा तो संघ सभा उस पर भले ही सोचे किन्तु सरकार या संविधान को अधिक कठोर नहीं होना चाहिये।

प्रश्न 1. इस संशोधन से तो यह भी हो सकता है कि अमीर लोग बच्चे पैदा करें और गरीब बेचारे न करें?

उत्तर– बच्चों का कम या अधिक होने से गरीबी अमीरी के साथ क्या संबंध है? यदि अमीर लोगों ने अधिक बच्चे कर लिये और गरीब नहीं किये तो गरीबों का क्या बिगड़ गया? जब आर्थिक असमानता अस्तित्व में है तथा लगातार बढ़ रही है तब आर्थिक असमानता की चिन्ता न करके गरीबों के बच्चों की घटती संख्या की चिन्ता करने का क्या औचित्य है? अतः आपसे निवेदन है कि इस प्रश्न को गरीबों की संख्या से जोड़ कर मत देखिये।

शस्त्र धारण

शस्त्र एक ऐसी निर्जीव वस्तु है जो व्यक्ति की शक्ति को कई गुना बढ़ा देती है। शस्त्र स्वयं में निर्णय नहीं कर सकता कि क्या उचित है और क्या अनुचित। शस्त्र सामान्य नागरिक की सुरक्षा में सहायक होता है तथा अपराधियों के आक्रमण में। शस्त्र की भूमिका आक्रमण और सुरक्षा में समान होती है। तथा यह तो उपयोग करने वाले पर निर्भर करता है कि वह सुरक्षा के उद्देश्य से शस्त्र का उपयोग करता है कि आक्रमण के। अब तक संवैधानिक व्यवस्था यह है कि आन्तरिक या बाह्य सुरक्षा कार्य में लगे सुरक्षाकर्मियों को शस्त्र रखने की छूट दी गई है तथा अपराधियों के शस्त्र रखने पर पूर्णतः रोक है। अपराधी किसी भी हालत में शस्त्र नहीं रख सकते। किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि अपराधी तत्व पूरी तरह शस्त्रों से लैस है। अनेक अपराधियों के पास तो अति आधुनिक शस्त्र तक विद्यमान हैं। अपराधी अपराध करने में शस्त्रों का खुला प्रयोग कर रहे हैं। सरकार शस्त्र नियंत्रण तथा अपराध नियंत्रण में विफल है। सरकार ने अपराध नियंत्रण के और अधिक कारगर तरीके खोजने की अपेक्षा आम नागरिकों को भी कुछ शर्तों के साथ शस्त्र रखने के लाइसेंस दिये। परिणाम यह हुआ कि घर–घर में शस्त्रों की होड़ शुरू हो गई। घरों में लाइसेंसी शस्त्र होने से आम नागरिकों में जितना सुरक्षा का भाव मजबूत हुआ उससे कई गुना अधिक उनके अन्दर शक्ति प्रदर्शन का भाव मजबूत हुआ। उसी का नतीजा हुआ कि शस्त्र अपराध नियंत्रण में तो शायद ही कहीं सफल हुआ हो किन्तु आपसी टकराव वृद्धि में इसकी बहुत बड़ी भूमिका बन गई। मुझे आश्चर्य होता है कि जो सरकार शस्त्रों को अपराध नियंत्रण में सहायक समझती है वही सरकार चुनाव या पर्व त्यौहार के समय सबके शस्त्र जप्त क्यों कर लेती है? इसका मतलब है कि शस्त्र आपसी विवाद वृद्धि में सहायक होते हैं। मेरी यह धारणा है कि अपराध नियंत्रण सरकार का दायित्व है। शस्त्र लायसेंस देकर उस दायित्व से मुंह चुराना सरकार की गलती है। मैंने प्रस्तावित संविधान में यह स्पष्ट व्यवस्था की है कि सुरक्षा कार्यों में लगे कर्मियों के अतिरिक्त किसी भी नागरिक को किसी भी प्रकार का कोई शस्त्र रखने की अनुमति नहीं होगी। ऐसे प्रावधान के बाद अपराधियों के शस्त्र पकड़ना कुछ और आसान होगा क्योंकि जब आम लोग शस्त्र नहीं रखेंगे तो शस्त्र अवैध हैं कि वैध? यह जानने की कोई समस्या नहीं रहेगी।

नई व्यवस्था के उद्देश्य से प्रस्तावित भारतीय संविधान में संशोधन के कुछ प्रमुख अंश

1. भारतीय संविधान के (Preamble) उद्देश्यिका से समता शब्द निकालकर स्वतंत्रता शब्द स्थापित हुआ है जिससे शासन को इकाइयों के इकाईगत निर्णय में हस्तक्षेप का बहाना समाप्त हो जावे।
2. मूल अधिकारों में से निरायुद्ध सम्मेलन, बलात् श्रम निरोध, धर्म की स्वतंत्रता, शिक्षा की स्वतंत्रता आदि अनावश्यक शब्दों को हटाकर स्व–निर्णय शब्द स्थापित किया गया है जिससे व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में सरकारी हस्तक्षेप के अवसर ही समाप्त हो जावें।
3. मूल अधिकारों में से भारत के किसी भी भाग में निर्वाध संचरण तथा कहीं भी बस जाने जैसे शब्दों को निकाल दिया गया है जिससे इकाइयां अपने इकाईगत क्षेत्र में सुदृढ़ हो सकें।
4. सम्पत्ति को मूल अधिकार में शामिल कर लिया गया है।
5. व्यक्ति के मूल अधिकारों की सुरक्षा का दायित्व राज्य पर इस सीमा तक दे दिया गया है कि असफल होने पर वह व्यक्ति को उचित मुआवजा देने को बाध्य होगा।
6. समाचार पत्रों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने हेतु व्यक्ति के व्यक्तिगत आचरण की व्यक्तिगत आलोचना को अपराध माना गया है।
7. पूरे देश को आबादी के आधार पर एक सौ प्रान्त, दस हजार जिले और दस लाख गांवों में इस तरह विभाजित किया गया है कि भारत के प्रत्येक परिवार का नौ अंकों का एक निश्चित किया गया है कि भारत के प्रत्येक परिवार का नौ अंकों का एक निश्चित कोड नम्बर उसकी पहचान बन जावे।
8. पारंपारिक परिवार व्यवस्था को कानूनी हस्तक्षेप से मुक्त करते हुए कम्यून प्रणाली के साथ परिवार प्रणाली का इस तरह सामंजस्य बिठाया गया है कि परिवारों की संरचना को संवैधानिक मान्यता प्राप्त हो जावे।
9. अपराध नियंत्रण का पहला दायित्व परिवार पर डालने हेतु व्यवस्था की गई ताकि परिवार के किसी सदस्य द्वारा किये गये अपराध का दायित्व सम्पूर्ण परिवार का हो।
10. गांधी जी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार का इस तरह सामंजस्य किया गया कि व्यक्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार समाप्त होकर सम्पत्ति परिवार की सामूहिक होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार होगा।
11. परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा सभी पदों पर महिलाओं को भी समान अधिकार प्रदान किया गया है।
12. परिवार में वृद्ध व्यक्तियों के सम्मान की सुरक्षा हेतु परिवार में भी राष्ट्रपति के समान एक औपचारिक पद बनाया गया है जिस पर परिवार का सबसे अधिक उम्र का व्यक्ति ही रह सकेगा।
13. प्रत्येक परिवार का ग्राम सभा में पंजीकरण अनिवार्य किया गया है जिससे सम्पत्ति, सदस्य संख्या पहचानने या कर लेने में सुविधा हो।

14. इकाइयों में अन्य शासकीय हस्तक्षेप समाप्त करने के लिये यह प्रावधान किया गया है कि व्यक्ति परिवार, गांव, जिला, प्रान्त तथा राष्ट्र अपनी अपनी चुनाव पद्धति तथा कार्य प्रणाली स्वयं तय करें।
15. चुनाव आयोग प्रत्येक निर्वाचन में गुप्त मतदान कराकर आश्वस्त होगा कि चुनाव से सब लोग किस सीमा तक सहमत हैं।
16. आन्तरिक सुरक्षा, बाह्य सुरक्षा, विदेश, न्याय और वित्त विभाग को छोड़कर अन्य किसी भी मामले में शासकीय हस्तक्षेप और दायित्व शून्य होगा जिससे कि इन पांच को छोड़कर अन्य सारे दायित्व परिवार, ग्राम सभा या अन्य इकाइयां स्वतंत्र रूप से देख सकें।
17. प्रत्येक सभा नीचे की इकाइयों द्वारा गठित की जायगी तथा ऐसी इकाइयां जिस सभा का गठन स्वर्ग वह स्वयं ही अपने अधिकार और कर्तव्य तय कर सकेगी। इससे व्यवस्था के अधिकार ऊपर से थोपे नहीं जायेंगे। बल्कि वे नीचे की इकाइयों से प्राप्त होंगे।
18. कोई सभा या पंचायत कोई कर नहीं लगा सकेगी बल्कि अपना खर्च फीस या चन्दे से पूरा करेंगी जिससे सभा या पंचायत का स्वरूप शासक का न होकर व्यवस्था का हो।
19. अपराध नियंत्रण सरकार का दायित्व होगा जिससे अपराध नियंत्रित भारत की ओर तीव्र गति से बढ़ा जा सके।
20. अपराधों पर प्रभावकारी नियंत्रण हेतु आन्तरिक आपातकाल की स्थिति में गुप्त मुकदमा प्रणाली शुरू की जायगी जिससे अपराधियों पर सक्षम नियंत्रण भी हो सकेगा तथा वर्तमान कार्यपालिका के तानाशाही अधिकार समाप्त होकर वास्तविक लोकतंत्र आ सकेगा।
21. पूरे देश में न्यायालयों को और अधिक स्वतंत्रता देने के उद्देश्य से प्रस्तावित है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता में कोई भी संशोधन मुख्य न्यायाधीश के प्रस्ताव पर ही किया जा सकेगा।
22. सरकार सम्पूर्ण सम्पत्ति पर अधिकतम 2 प्रतिशत तक कर लगा सकेगी। इससे सरकार की मनमाने खर्च पर रोक लग सकेगी।
23. देश की प्रगति का मापदण्ड न्यूनतम श्रम–मूल्य होगा। श्रम–मूल्य में अपेक्षित वृद्धि के लिये कृत्रिम ऊर्जा की मूल्य वृद्धि की जायगी।
24. सरकार के खर्च पूरे होने के बाद शेष धन पूरे देश के प्रत्येक परिवार में सदस्य संख्या के आधार पर वितरित कर दिया जायगा। इस प्रणाली का उद्देश्य आर्थिक असमानता को कम करना है। फिर भी यदि आर्थिक असमानता कम नहीं होती तो आर्थिक आपातकाल की घोषणा करके 2 प्रतिशत और कर लगाकर वितरित कर दिया जायगा।
25. पूरे देश में किसी भी व्यक्ति के साथ किसी भी स्थिति में धर्म, जाति, भाषा, लिंग आर्थिक स्थिति या उम्र के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायगा जिससे सरकार की दृष्टि में भारत सौ करोड़ व्यक्तियों का देश बन सके न कि धर्मों जातियों या अन्य वर्गों का संघ।
26. लोकसभा स्थायी होगी तथा उसका चुनाव प्रतिवर्ष 20 प्रतिशत सीटों पर होगा जिससे कि लोकसभा का चुनाव बार बार होने का खतरा भी टलेगा, विपक्षी दलों की जनमत की परीक्षा भी प्रतिवर्ष होती रहेगी तथा चुनाव आयोग को भी निरंतर कार्य मिलेगा। इस संशोधन से सरकार की नीतियों में भी एकाएक कोई बड़ा फेरबदल नहीं हो सकेगा।
27. किसी भी लोकसभा क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले जिला सभा के सदस्य चाहें तो अपने सांसद के विरूद्ध प्रस्ताव पारित करके उसकी सदस्यता समाप्त कर सकते हैं। इससे सांसद के चुनाव में खर्च घटेगा तथा सांसदों पर अंकुश भी लग सकेगा।
28. संसद के भीतर भी मूल अधिकार हनन होने पर न्यायालय में जाने की छूट दी गई है। इससे संसद के भीतर के झगड़े कम हो जावेंगे तथा विचार शान्तिपूर्वक सम्पन्न होगा।
29. राज्यसभा का नाम परिवार सभा होगा क्योंकि परिवार सभा का चुनाव परिवारों द्वारा क्रमशः चुनी गई प्रान्तीय सभा करेंगी। चूँकि प्रान्तीय सभा अप्रत्यक्ष चुनावों द्वारा अराजनैतिक आधार पर बनती है अतः परिवार सभा में राजनीति या राजनेताओं का प्रवेश नगण्य ही संभव होगा।
30. सरकार सिर्फ अपने काम काज की ही भाषा तय कर सकेगी। अन्य इकाइयों की भाषा वे इकाइयां स्वयं तय कर सकेंगी।
31. सरकार विदेशों से संबंध बनाने में विश्व जनमत को ठुकराने के लिये स्वतंत्र नहीं होगी। यदि ऐसा आवश्यक होगा तो सरकार सिर्फ प्रस्ताव करेंगी जिस पर संसद, संघ सभा तथा संविधान सभा मिलकर विचार करेंगे। इससे राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद के बीच राष्ट्रवाद कमजोर होगा। युद्ध या टकराव भी कम होंगे।
32. राष्ट्र की अन्तिम सीमा का पंद्रह किलो मीटर का क्षेत्र सैनिक नियंत्रण में होगा जहाँ या तो कोई नहीं रहेगा या सरकार की स्वीकृति से रहेगा। इससे राष्ट्रीय सुरक्षा बहुत मजबूत हो सकेगी।
33. परिवार के सदस्य परिवार के मुखिया का चुनाव करेंगे तथा मुखिया लोक सभा या ग्राम सभा में मतदान करेंगे जिसकी गिनती उसकी सदस्य संख्या के आधार पर होगी। इससे चुनाव खर्च भी घटेगा तथा गुणवत्ता भी बढ़ेगी।
34. किसी भी चुनाव में न्यूनतम वोट कुल वैध मतदान का आधे से अधिक प्राप्त करना आवश्यक होगा। यदि किसी चुनाव में एक ही उम्मीदवार हो तब भी उसे गुप्त मतदान द्वारा आधे से अधिक वोट लेना आवश्यक है। इससे दबाव या अल्पमत सरकारों का खतरा समाप्त होगा।
35. परिवार से लेकर राष्ट्र तक के सभी चुनाव, चुनाव आयोग की देखरेख में होंगे।
36. आपातकाल लगाने का सरकार का स्वतंत्र अधिकार नहीं रहेगा बल्कि सरकार की सलाह पर राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा मुख्य न्यायाधीश मिलकर निर्णय करेंगे तथा ये तीनों ही मिलकर व्यवस्था करेंगे।
37. आपातकाल में भी व्यक्ति के मूल अधिकार सुरक्षित रहेंगे। सरकार सिर्फ 10 प्रतिशत तक आपातकर लगा सकती है।

38. मृत्युदण्ड घोषित व्यक्ति अपनी दोनों आंख निकलवाकर तब तक जमानत पर जीवित रह सकता है जब तक वह चाहे। इससे मृत्युदण्ड का एक मानवीय विकल्प खड़ा हो सकता है।
39. देश का सारा हिसाब किताब मूल रुपया के आधार पर रखा जायगा। इससे मंहगाई, मुद्रा–स्फीति या कृत्रिम मूल्य वृद्धि समाप्त हो जायगी।
40. सुरक्षा कर्मियों को छोड़कर घातक अस्त्र शस्त्र रखने पर पूरा प्रतिबंध होगा।
41. संविधान में किसी भी प्रकार का संशोधन संसद के प्रस्ताव पर संविधान सभा की सहमति से ही हो सकेगा। इससे संसद के एकाधिकार पर अंकुश लगेगा।
42. संविधान सभा प्रत्येक प्रान्त से एक प्राचार्य (Principal) तथा दस पूर्व न्यायाधीश पूर्व प्रधानमंत्री एवं पूर्व राष्ट्रपतियों को मिलाकर बनेगी। प्राचार्यों का चुनाव प्रोफेसर्स करेंगे।
43. डिग्री कालेज या उसके ऊपर के कालेज के आचार्य या प्राचार्य अपने सम्पूर्ण शिक्षण काल में राजनीति में भाग नहीं लेंगे। इससे संविधान सभा की टीम राजनीति से विलग हो जायगी।
44. संसद और संविधान सभा मिलकर भी व्यक्ति के मूल अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकेंगे जब तक जनमत संग्रह द्वारा आम स्वीकृति न हो जावें।
45. संसद सदस्यों के वेतन और भत्ते संघ सभा तय करेंगी। इससे संसद के अपने वेतन भत्ते तथा सुविधाएँ तय करने पर रोक लग जायेगी।